पोलिटिकल डायरी

दीनदयाल उपाध्याय

सुरुचि प्रकाशन
केशव कुंज, झण्डेवाला, दिल्ली-110055

प्रकाशक का निवेदन

प्रसिद्ध विचारक और राजनेता पंडित दीनदयाल उपाध्याय अपने व्यस्त राजनीतिक जीवन में भी अनेक वर्षों तक अंग्रेजी साप्ताहिक 'आर्गनाइजर' में 'पोलिटिकल डायरी' नामक स्तम्भ के अन्तर्गत तत्कालीन राजनीतिक-आर्थिक घटनाक्रम पर गम्भीर विवेचनात्मक टिप्पणियाँ लिखते रहे। यद्यपि विषय तत्कालीन होता था, तो भी उस पर दीनदयाल जी की टिप्पणी सामयिक के साथ-साथ बहुधा दीर्घकालीन या स्थायी महत्त्व की भी होती थी। इसलिए उनके दुःखद निधन के पश्चात् उन लेखों का एक संकलन उसी स्तम्भ के 'पोलिटिकल डायरी' नाम से ही 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय स्मारक समिति' ने जयको पब्लिशिंग हा॰ बम्बई से प्रकाशित कराया था। श्री नानाजी देशमुख के विशेष प्रयत्न से वह संग्रह व्यवस्थित रूप में अंग्रेजी के साथ-साथ अनूदित होकर हिन्दी में भी प्रकाशित हुआ। किन्तु इधर वर्षों लम्बे अन्तराल से वह पुस्तक बाजार में उपलब्ध नहीं थी। उस अभाव की पूर्ति करने की अनुमति सुरुचि प्रकाशन को प्रदान की गयी, इसके लिए हम दीनदयाल शोध संस्थान और 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय स्मारक समिति' के आभारी हैं।

आशा है सुहृद पाठक वर्ग को लम्बी प्रतीक्षा के उपरान्त उपलब्ध हो रही यह पुस्तक अपनी अपेक्षा के अनुरूप सुव्यवस्थित मिलेगी।

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना १
जीवन-परिचय ५

आर्थिक दशा
चतुर्थ योजना से निराशा ११
आर्थिक प्रगति की समस्याएँ १३
मोरारजी का १९६३ का बजट १७
भारत सरकार की स्वर्णनीति २३
तृतीय योजना : एक विश्लेषण २९
खाद्यान्नों में राज्य-व्यापार ३२
पी.एल. ४८० समझौता ३६
सार्वजनिक बनाम निजी क्षेत्र ४०
सहकारिता कृषि—किंकर्तव्यविमूढ़ता की कहानी ४२

भारत-पाक सम्बन्ध
भारत, पाकिस्तान और अमरीका ४९
पाकिस्तान को अमरीकी सैन्य-सहायता ५२
क्या कश्मीर पर समझौता हितकर होगा? ५५

वैदेशिक मामले
पश्चिम के बारे में कुछ धारणाएँ ६१
परराष्ट्र नीति और प्रतिरक्षा ६५
कांगो और बेरुबाड़ी ७१
भारत और रानी ७५
राष्ट्रमण्डल पर कुछ विचार ७७
भारत, नेपाल और जनतंत्र ८१

भाषा
संस्कृतनिष्ठ हिन्दी क्यों? ८४
स्वभाषा और सुभाषा ८९

चीनी खतरा
क्या हमने चीनी आक्रमण से शिक्षा ली? ९४
मेनन को हटना ही चाहिए ९७
क्या हमें गुटबन्दी अपनानी चाहिए? १००
सरकार जनता का विश्वास करे १०६
चीनी आक्रमण और भारत सरकार १०९
इंच-इंच या मील-मील ११३
चीनी आपदा और भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी ११८
तिब्बत की स्वतंत्रता और भारत का दाव १२०

संसदीय जनतंत्र
चुनाव-विधान पर कुछ विचार १२५
राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता १३१
कांग्रेस और जनतंत्र १३४
जनतंत्र और राजनीतिक दल १३८
विधायिका-पक्ष बनाम संगठन-पक्ष १४२
उपयुक्त प्रत्याशी कौन है? १४६
प्रत्याशी, दल और सिद्धान्त, सभी महत्त्वपूर्ण १५१
परिवर्तनेच्छु और अपरिवर्तनेच्छु १५५

विविध
जनसंघ-अधिवेशनों के बारे में १५९
स्वतंत्र पार्टी और भारतीय जनसंघ का एकीकरण? १६३

कश्मीर, जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी १६५
मूल्यवृद्धि पर नियंत्रण १६७
कामराज योजना पर एक दृष्टि १६६
पंजाब और पंजाबी १७२
मध्यप्रदेश की वन्यजातियाँ १७६
फोर्ड फाउण्डेशन और गोहत्या १७६
सरकार पर अधिकाधिक निर्भरता १८३

प्रस्तावना

डा. सम्पूर्णानन्द
कुलाधिपति

काशी विद्यापीठ,
वाराणसी-२

श्री नानाजी देशमुख तथा कुछ अन्य मित्रों ने यह इच्छा व्यक्त की कि मैं इस संग्रह के बारे में, जिसमें से यदि सब नहीं तो अधिकांश लेख पहले विभिन्न अवसरों पर दिल्ली के 'आर्गेनाइजर' में 'डायरी' स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुके हैं, अपना कुछ मन्तव्य लिखूँ। मैं तुरन्त तैयार हो गया। श्री दीनदयाल उपाध्याय जनसंघ के महान् नेताओं में से एक थे, और मैं अपने संपूर्ण राजनीतिक जीवन में कांग्रेस का सदस्य रहा हूँ। इन परिस्थितियों में कुछ लोगों को आश्चर्य हो सकता है कि यह अनुरोध कैसे किया गया, और कैसे स्वीकार कर लिया गया। मैं इसको अनुभव करता हूँ। परन्तु बात ऐसी है कि यदि अपने देश में जनतंत्र की जड़ें मजबूत करनी हैं तो यह सहिष्णुता के उस महान् गुण की मात्र सामान्य अभिव्यक्ति है जिस पर आचरण करना हम सबको सीखना चाहिए। कोई भी व्यक्ति 'सत्य' पर अपना एकाधिकार होने का दावा नहीं कर सकता। कोई भी व्यक्ति परस्पर-विपरीत प्रतीत होने वाले सभी भिन्न-भिन्न पहलुओं के, जिससे 'सत्य' तक पहुँचा जा सकता है, एकमेव जानकार होने का भी दावा नहीं कर सकता। एक सच्चे जनतंत्र में हर व्यक्ति का यह अधिकार एवं कर्तव्य होना चाहिए कि वह 'सत्य' को जैसा समझता है, उसको सुज्ञात विशिष्ट सीमाओं के अन्तर्गत अभिव्यक्त कर सके और इसका ध्यान रखे कि उसके समान ही हर व्यक्ति को वही स्वतंत्रता प्राप्त हो सके। हममें से हर व्यक्ति द्वारा संग्रहीत विभिन्न पहलुओं को ईमानदारी के साथ एकत्र रखकर ही हम 'सत्य' के निकटतर पहुँचने का प्रयास कर सकते हैं। ज्ञानप्राप्ति के लिए, जिससे हमें मानवता की सेवा करने में सर्वोत्तम सहायता मिल सकती है, जो लोग चिन्तन एवं दूसरों के साथ विचारों के आदान-प्रदान की प्रक्रिया मे तल्लीन रहते हैं, उनका यही रुख होना चाहिए। जो लोग केवल दूसरों पर विजय प्राप्त करने में ही रुचि रखते हैं, वे जनतंत्र की सेवा में सहायक नहीं हो सकते। सबसे बड़ी बात यह है कि जैसा कि

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने कहा है, वादे वादे जायते तत्त्वबोधः, हम 'तत्त्व-बोध' चाहते हैं। यदि हम किसी के साथ वादविवाद में लगते हैं, तो हम वैसा 'तत्त्व-जिज्ञासा' से प्रेरित होकर करें न कि दूसरे पक्ष पर विजय प्राप्त करने की अर्थात् विजिगीषा की भावना से।

हमें दिखाई देता है कि इन लेखों को हम तीन विभागों में रख सकते हैं। पहली श्रेणी के लेख मुख्यतः राजनीतिक लेख हैं, जो मुख्यतया अखबारी तर्क-वितर्क की दृष्टि से लिखे गये हैं। इन लेखों में निहित बातों का अपने-आप में कोई महत्त्व नहीं है। एक प्रकार से, वे केवल उसी अवसर के लिए उद्दिष्ट थे, जिस समय वे लिखे गये। वे घात-प्रतिघात की भावना से, जो राजनीतिक संघर्षों, विशेषकर चुनाव-संघर्षों का वैशिष्ट्य है, ओतप्रोत हैं। वे बाद के किसी मौके पर भी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। मैं समझता हूँ कि इस संग्रह में उनके सम्मिलित किये जाने का औचित्य भी यही है। बाद के युग के पाठकों को इनसे कुछ वही मनोवैज्ञानिक उत्तेजना मिल सकेगी, जो उन पुराने दिनों में भाग लेनेवालों के मनों में उद्भूत हुई थी। किसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक आधार के बिना उन दिनों की घटनाएँ पढ़ने में नीरस लग सकती हैं।

दूसरी श्रेणी में उन लेखों का समावेश है, जो पहली श्रेणी के लेखों से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं, परन्तु उनसे विस्तृत, गंभीर चिन्तनयुक्त एवं काफी विचारोत्तेजक हैं। ऐसे लेख ऐसे किसी के लिए भी अमूल्य सिद्ध होंगे, जो (मान लीजिए) एक दशाब्दी या उसके बाद उन दिनों के इतिहास का अध्ययन करना चाहेंगे। उन्हें ऐसे लेखों से न केवल यह समझने में सहायता मिलेगी कि क्या हुआ और ऐसा क्यों हुआ, बल्कि उन्हें इसके बारे में भी समुचित कल्पना आ सकेगी कि कुछ विशेष व्यक्ति और नारे जनमन को आकर्षित करने में क्यों सक्षम हो सके। वह यह भी समझ सकेगा कि विभिन्न दलों द्वारा जारी किये गये वक्तव्यों में तर्क का कौन-सा 'रोल' रहा ? संक्षेप में, इन लेखों में वे सब मसाले विद्यमान हैं जिनके बिना निकट अतीत का कोई भी इतिहास सुसंबद्ध और ग्राह्य नहीं हो सकेगा। सबसे बड़ी बात यह है कि हम सब ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार निकट अतीत के रूप-निर्धारण में हाथ बँटाया है। हम सब ने उसके उस रूप-निर्माण में और उससे उस वर्तमान का विकास करने में, जिसमें हम रहते हैं, अपना योगदान किया है, भले ही वह योगदान तुच्छतम क्यों न हो। यही वह निकट अतीत है—वह अतीत जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद

पैदा हुआ—जो उस भविष्य की सीढ़ी बनने जा रहा है, जिसका हम सब भिन्न-भिन्न तरीके से स्वप्न देखते हैं। यह आवश्यक है कि हम लोग विशेष रूप से अब, जब गर्द और गरमी कुछ शान्त हो गयी है, उदारतापूर्वक उस अतीत को समझने का प्रयत्न करें। उसे गलत समझ कर या तर्क का स्थान भावना को देकर हम कुछ ऐसे भविष्य का निर्माण कर देंगे जो बिल्कुल अवांछनीय सिद्ध हो सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम किसी भी व्यक्ति को, जो इस विषय में कुछ कहना चाहता है, पूरा अवसर दें। हम हर कल्पना को, स्वातन्त्र्य एवं खुले विचार-विमर्श को, जनता के सामने आने देने का पूरा अवसर प्रदान करें। यही वह कारण है जिससे मैंने यह अनुभव किया कि यदि स्वर्गीय श्री दीनदयाल उपाध्याय के विचारों को पूर्ण प्रकाश में लाने में सहायता करने के अनुरोध को अस्वीकार कर दूँ, तो मैं अपने कर्तव्य से विमुख हो जाऊंगा। और यह स्मरण रखना चाहिए कि वे विचार किसी ऐरे-गैरे के विचार नहीं हैं। ये शब्द हमारे समय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नेताओं में से एक नेता की कल्पनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं, जो अपने देश के सर्वश्रेष्ठ हित-सम्पादन के लिए अपने को अर्पित कर चुका था, जो निर्मल चरित्रवाला था और जो एक ऐसा नेता था, जिसके वजनदार शब्द हजारों-हजार शिक्षित व्यक्तियों को भावाभिभूत कर देते थे। यदि हम उनसे सहमत नहीं हैं, तो भी हमें उनका उचित आदर करना चाहिए, और हमें उनकी विवेचना करनी चाहिए। वे चुनाव तथा अस्थायी महत्त्व की अन्य घटनाएँ बीत चुकी हैं, पर देश कायम है—वह देश जिसके नाम पर वे सारी गतिविधियाँ हुई थीं। पुराने योद्धाओं से, जो हाथ में तलवार लिये धराशायी हो गये, हम जो कुछ भी प्रकाश पा सकते हैं, उसे ग्रहण कर हमें देश के लिए अभी भी कार्य करना है। जो सफाई से लड़े और जिनके हृदयों में कोई दुर्भावना नहीं थी, वे लोग किस दल के थे, इसका कोई महत्त्व नहीं है। वे एक दूसरे की सज्जनता को पहचानते थे, और कभी किसी क्षण उनमें से कोई अस्थायी रूप से किसी मानवी दुर्बलता का शिकार भी हो गया हो, तो हमें रामचंद्र जी द्वारा विभीषण को उपदिष्ट इन शब्दों को याद रखना चाहिए—मरणान्तानि वैराणि।

तीसरी श्रेणी के उन लेखों की भी चर्चा करना आवश्यक है, जिनकी संख्या दुर्भाग्य से बहुत कम है। इस श्रेणी के लेख वर्तमान समय की सीमा से बहुत आगे पहुँचे हुए हैं, यद्यपि वे अस्थायी रूप से उत्पन्न परिस्थितियों के आधार पर लिखे गये थे। मुझे आश्चर्य होता है कि क्या स्वयं उपाध्याय जी ने उनको अनुभव किया था, या

क्या उनका अनुभव करने के लिए उनके पास समय था ! मैं उदाहरण के लिए केवल एक की चर्चा करूंगा। 'आपका मत' शीर्षक लेख वर्तमान मतदाताओं को लक्ष्य कर लिखे गये हैं। किन्तु प्रासंगिक रूप से उन विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है, जो राजनीति विज्ञान की महत्त्वपूर्ण समस्याओं से संबंधित हैं। इन समस्याओं की समुचित जानकारी पर ही समाज की वैज्ञानिक व्यवस्था आधारित है। राजनीति शास्त्र के न केवल वर्तमान काल के, अपितु उदाहरण के लिए भीष्म के समान प्राचीन काल के कुछ महान् लेखकों ने भी उन समस्याओं की चर्चा की है। महात्मा गांधी तथा डा. भगवानदास जैसे आधुनिक युग के पुरुषों ने भी उनकी चर्चा की है। मत देने के योग्य कौन है, और मत पाने के योग्य कौन है, ये महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। 'मत प्राप्त करना' (Get a Vote) वाक्यांश महत्त्वपूर्ण है, और इसमें अनेक गुत्थियाँ जुड़ी हुई हैं। मेरा विश्वास है कि उपाध्याय जी के कुछ प्रशंसक इस प्रश्न को हाथ में लेंगे और इस लेख में निहित गंभीर गुत्थियों को समझने-सुलझाने का प्रयत्न करेंगे।

मैं नहीं समझता कि इन लेखों का और अधिक परिचय देने की आवश्यकता है। वे शीघ्र ही जनता के सामने आनेवाले हैं और मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि मैं भी इस प्रक्रिया में, भले ही अत्यन्त अल्प परिमाण में क्यों न हो, संलग्न हूँ।

—संपूर्णानन्द

जीवन - परिचय

So Young, So Fair,
Good without effort,
Great without a foe...

कितने युवा, कितने सुन्दर,
स्वभाव से ही भले,
महान्, फिर भी, अजातशत्रु...

—वाइरन

कहा जाता है कि कुछ लोग महान् पैदा होते हैं, कुछ लोग महानता अर्जित करते है, और कुछ लोगों पर महानता थोप दी जाती है। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय इसमें से दूसरी श्रेणी के थे। न तो उन्होंने किसी समृद्ध घर में जन्म लिया था, न उनके पास सम्पत्ति थी, और न उनके पास कोई उच्च पद था। इतने पर भी वे भारतीय राजनीतिज्ञों की अगली पंक्ति में पहुँच गये। अनेक प्रसिद्ध नेता मृत्यु के बाद विस्मृति के गर्त में समा गये। दीनदयालजी वास्तव में सच्चे महान् पुरुषों में से थे, जो मृत्यु के बाद और ऊँचे उठते हैं।

दीनदयालजी का जन्म २५ सितम्बर, १९१६ [विक्रम संवत् (चैत्री) १९७३, शालिवाहन शके १८३८, भाद्रपद-अश्विन् कृष्ण १३, सोमवार] को जयपुर-अजमेर लाइन पर स्थित धनकिया गाँव में हुआ था, जहाँ उनके नाना श्री चुन्नीलाल शुक्ल स्टेशन-मास्टर के रूप में कार्य कर रहे थे। पं. दीनदयाल के पिता श्री भगवतीप्रसाद मथुरा जिले के नगला चन्द्रभान ग्राम के निवासी थे। उनके पितामह पण्डित हरिराम एक सुप्रसिद्ध ज्योतिषी थे, और जब उनकी मृत्यु हुई तब आगरा और मथुरा में हड़ताल मनायी गयी थी।

भगवतीप्रसादजी का तभी स्वर्गवास हो गया, जब दीनदयाल की आयु तीन वर्ष से भी कम ही थी। अपनी माता के साथ वे अपने नाना के यहाँ चले गये और उन्हीं के साथ रहने लगे। किन्तु उनके आठ वर्ष के होने के पहले ही उनकी माताजी की भी मृत्यु हो गयी। उसके बाद उनका लालन-पालन उनके मामा श्री राधारमण शुक्ल ने किया, जो फ्रण्टियर मेल पर रेलवे-गार्ड थे।

दीनदयाल एक विशिष्ट बालक थे। वह बुद्धि और साहस के आगार थे। उन्होंने कल्याण हाई स्कूल, सीकर से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की, और अजमेर बोर्ड की

उस परीक्षा में उन्हें प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हुआ। उन्हें बोर्ड और स्कूल, दोनों की ओर से एक-एक स्वर्ण-पदक प्रदान किये गये। दो वर्ष बाद बिड़ला कालेज पिलानी से इण्टरमीडिएट परीक्षा में भी वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए, और इस बार भी वे प्रथम रहे। इस बार भी उन्हें दो स्वर्ण पदक मिले—एक बोर्ड की ओर से तथा दूसरा कालेज की ओर से। उन्होंने सनातन धर्म कालेज, कानपुर से गणित विषय लेकर प्रथम श्रेणी में बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। पण्डितजी गणित विषय लेकर एम.ए. करने के लिए आगरा के सेण्ट जोन्स कालेज में प्रविष्ट हुए, परन्तु परिस्थितिवश बीच में ही छोड़कर प्रयाग चले गये, जहाँ से उन्होंने एल.टी. किया। अपने पूरे कालेज-जीवन में उन्हें मासिक छात्रवृत्ति प्राप्त होती रही।

१६३७ में वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक बने। उत्तर प्रदेश में उस समय संघ का कार्य प्रारम्भ ही हो रहा था और इस प्रकार दीनदयाल जी वहाँ नींव की शिलाओं की भाँति सर्वप्रथम् बने स्वयंसेवकों में से एक थे। शीघ्र ही भारत के इस सबसे विस्तृत राज्य में रा.स्व.संघ (R.S.S.) को एक समर्थ शक्ति बनाने के कार्य में वे जुट गये।

पढ़ाई पूरी कर लेने के साथ ही उन्होंने कोई नौकरी न करने का निश्चय किया। उसके स्थान पर, उन्होंने राष्ट्रीय जागृति एवं राष्ट्रीय एकता के रा. स्व. संघ के कार्य के लिए अपना जीवन अर्पित कर देने का निश्चय कर लिया। १६४२ में उत्तर-प्रदेश के अंतर्गत लखीमपुर-जिला-प्रचारक के रूप में कार्यारम्भ कर पाँच वर्ष के अंदर ही वे सह-प्रान्त-प्रचारक बन गये। इस प्रकार श्री भाऊराव देवरस के बाद उनका ही स्थान था। वे १६५१ तक इसी पद पर कार्य करते रहे। उसके बाद जब उसी वर्ष भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई, तब उनकी सेवाएँ उसे अर्पित कर दी गयीं, और वे उत्तर प्रदेश भारतीय जनसंघ के मन्त्री बने।

अगले वर्ष जनसंघ के कानपुर-अधिवेशन में डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने उन्हें भारतीय जनसंघ का महामंत्री नियुक्त किया। डा. मुखर्जी उनकी संगठन-क्षमता से इतने अधिक प्रभावित हुए कि कानपुर-अधिवेशन के बाद उनके मुँह से यही उद्‌गार निकले कि 'यदि मेरे पास और दो दीनदयाल हों तो मैं भारत का राजनीतिक रूप बदल दूंगा।'

दुर्भाग्य से १६५३ में डा. मुखर्जी की मृत्यु हो गयी, और भारत के राजनीतिक रूप को बदल देने का दायित्व स्वयं पं. दीनदयालजी के कन्धों पर आ पड़ा। उन्होंने इस

कार्य को इतने चुपचाप और विशिष ढंग से पूरा किया कि जब १६६७ के आम चुनावों के परिणाम सामने आने लगे तब देश आश्चर्यचकित रह गया। उन्होंने इसे द्वितीय क्रान्ति की संज्ञा दी—भारत की स्वतंत्रता पहली क्रान्ति थी। जनसंघ राजनीतिक दलों में दूसरे क्रमांक पर पहुँच गया। यह स्पष्ट हो गया कि उसके प्रथम क्रमांक पर पहुँचने में अब कुछ ही वर्ष का समय लगेगा।

यद्यपि दीनदयालजी एक महान् नेता बन गये थे, परन्तु वे अपने कपड़े स्वयं ही साफ करते थे। वे स्वभाव से इतने सरल थे कि जब तक उनकी बनियान की चिंदी-चिंदी नहीं उड़ जाती थी, वे नयी बनियान बनवाने के लिए तैयार नहीं होते थे। वे 'स्वदेशी' के बारे में शोर तो नहीं मचाते थे, परन्तु वे कभी भी विदेशी वस्तु नहीं खरीदते थे।

लखनऊ से प्रकाशित 'पांचजन्य' साप्ताहिक और 'स्वदेश' दैनिक के संपादक के रूप में वे न केवल इन पत्रों का संपादन करते थे, अपितु आवश्यक होने पर कम्पोज भी करते थे, मशीन भी चला लेते थे और 'बाइंडर' तथा 'डिस्पैचर' का कार्य भी कर लेते थे। १६४०-४६ के बीच एक बार तो उन्होंने एक ही बार में १६ घण्टे बैठकर 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नामक लघु उपन्यास लिख डाला। बाद में उन्होंने हिन्दी में ही 'शंकराचार्य' का एक जीवन-चरित्र भी लिखा। तदुपरान्त उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डा. हेडगेवार के अधिकृत जीवनचरित्र का मराठी से हिन्दी में अनुवाद किया।

यद्यपि देखने में वे अत्यन्त सामान्य व्यक्ति प्रतीत होते थे, वे अन्य हर प्रकार से —मौलिक कल्पनाएँ करने की दृष्टि से, अपने शब्दों की सार्थकता की दृष्टि से, अथक रूप से अनवरत कार्य करने की क्षमता की दृष्टि से एवं जीवन की निर्मलता की दृष्टि से—एक असाधारण पुरुष थे।

जनसंघ के अस्तित्व में आने के थोड़े दिनों बाद से लेकर अपनी मृत्यु के कुछ महीने पहले तक दीनदयालजी उसके महामंत्री थे। कई अध्यक्ष आये और कई गये, परन्तु महामंत्री वही रहे। एक-एक कार्यकर्ता का निर्माण कर एक राज्य से दूसरे राज्य में उन्होंने जनसंघ का विस्तार किया। श्री अटलविहारी वाजपेयी के शब्दों में : 'वे स्वयं तो संसद्-सदस्य नहीं थे, परन्तु वे जनसंघ के सभी संसद्-सदस्यों के निर्माता थे।' और इतने पर भी कभी किसी ने उनको अपने बारे में या अपने प्रयत्नों के बारे में कुछ भी कहते नहीं सुना। 'मैं' शब्द के प्रयोग को वे निषिद्ध मानते थे। श्री

यज्ञदत्त के शब्दों में : "उनका जीवन पवित्र त्रिवेणी था जिसमें 'तमस्' संगम की 'सरस्वती' के समान अदृश्य था, जबकि 'रजस्' और 'सत्त्व' यमुना और गंगा के समान गहरे और विस्तृत रूप से विद्यमान थे।"

१९६३ में पंडितजी को संयुक्त राज्य अमरीका की यात्रा के लिए आमंत्रित किया गया, किन्तु अविचारी रिजर्व बैंक ने उनको 'पी' फार्म देने से इन्कार कर दिया। पण्डित नेहरू के व्यक्तिगत हस्तक्षेप पर ही उन्हें उक्त फार्म (प्रपत्र) मिल सका। उन्होंने ब्रिटेन, पश्चिम जर्मनी और पूर्वी अफ्रीका की यात्रा के लिए भी इस अवसर का उपयोग करने का निश्चय किया। लन्दन, नैरोबी एवं अन्य स्थानों के भारतीय समाज को उन्होंने बहुत प्रभावित किया।

कालेज में पण्डितजी का मुख्य विषय गणित था, और संस्कृत के प्रति उनका सर्वाधिक प्रेम था। किन्तु उन्होंने राजनीति में प्रवेश करने के साथ ही अर्थशास्त्र के महत्तव को समझा। उन्होंने उस विषय का इतना गहन अध्ययन किया कि किसी भी अर्थशास्त्री की तुलना में वे उस विषय के ज्ञान में पीछे नहीं रहे। वे संभवतः किसी भी दूसरे राजनीतिशास्त्री या अर्थशास्त्री की अपेक्षा अधिक ध्यान से विभिन्न योजनाओं का अध्ययन किया करते थे। भारतीय अर्थचिन्तन में उनका सबसे मौलिक योगदान है 'एकात्म मानववाद', जिसमें आज की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के साथ चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है।

११ फरवरी १९६८ को रहस्यपूर्ण परिस्थितियों में उनकी हत्या होने के केवल कुछ सप्ताह पूर्व दीनदयालजी ने जनसंघ के ऐतिहासिक कालीकट-अधिवेशन की अध्यक्षता की। उस अधिवेशन के बारे में मत व्यक्त करते हुए भारत के सबसे अधिक प्रसार-संख्यावाले समाचारपत्र 'मातृभूमि' ने लिखा कि 'तीन दिन तक ऐसा प्रतीत हुआ, मानो गंगा ने अपना मार्ग बदल दिया है और उसने केरल होकर बहना आरम्भ कर दिया है।' जनसंघ दक्षिण में एक भारी धमाके के साथ पहुँचा था। उस महान् समय में ही उनकी हत्या कर दी गयी, जैसा कि पहले स्वामी दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा गांधी की हत्या हुई थी।

भारत के गृहमन्त्री श्री चव्हाण ने उनको एक 'आदर्श भारतीय' कह कर श्रद्धांजलि दी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सरकार्यवाह (General Secretary) और वर्तमान सरसंघचालक श्री बालासाहेब देवरस ने उन्हें 'एक आदर्श स्वयंसेवक' बताया और डा. हेडगेवार के साथ उनकी तुलना की। श्री नाथ पै

ने उनको गांधी, तिलक और बोस की राष्ट्रीय परंपरा का पुरुष कहा, श्री हीरेन मुखर्जी ने उन्हें अजातशत्रु (जिसका कोई शत्रु न हो) की संज्ञा दी और आचार्य कृपलानी ने "दैवीगुण-संपन्न व्यक्ति' के विशेषण के साथ उनका वर्णन किया। दधीचि की भाँति उन्होंने देश की सेवा में अपनी हड्डियाँ लगा दीं। ऐसे थे पं. दीनदयाल। देश दीर्घकाल तक उनके अभाव को अनुभव करता रहेगा और उनका सदा स्मरण करता रहेगा।

चतुर्थ योजना से निराशा

योजना आयोग ने चतुर्थ योजना पर जो नोट तैयार किया है, वह अभी तक पूर्णतः प्रकाशित नहीं हुआ है। किंतु समाचारपत्रों में जो कुछ प्रकाशित हुआ है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस तथ्य के बावजूद कि पूर्व योजनाएँ बुरी तरह विफल रही हैं, आयोग उन पूर्व योजनाओं की प्राथमिकताओं एवं व्यूहरचना का ही पल्ला पकड़े हुए हैं। परिवर्तन की आवश्यकता मान्य की गयी है, किन्तु क्षेत्रीय आबंटन में उसका कहीं आभास नहीं है। उसके कुछ अवांछनीय पहलू निम्न प्रकार से हैं :

बृहदाकार आयोजना की धुन पूर्ववत् है। तृतीय योजना – काल में विकास की गति ३ प्रतिशत वार्षिक से अधिक बढ़ने की सम्भावना नहीं है, किन्तु चतुर्थ योजना ६.५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि-दर की पूर्वाशा पर आधारित की जा रही है। अतिशयोक्तिवादी होने की अपेक्षा वास्तविकतावादी बनना अच्छा है।

सार्वजनिक (सरकारी) और निजी क्षेत्र के बीच जो आबंटन किया गया है, वह केवल सैद्धान्तिक आधार पर है और उसमें दोनों क्षेत्रों की भूतकालिक उपलब्धियों, वर्तमान क्षमताओं तथा भविष्य की सम्भावनाओं पर विचार नहीं किया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र को ठोस करने की आवश्यकता है। तृतीय योजनावधि में सार्वजनिक क्षेत्र में आर्थिक उपलब्धि ६५ अरब रुपये से अधिक की होने की संभावना नहीं है। अतः उसके लिए १ खरब ५६ अरब रुपये का निर्धारण उसकी क्षमता से काफी अधिक है।

कृषि अभी भी पिछड़े स्तर पर ही है। तृतीय योजना के १४ प्रतिशत की तुलना में चतुर्थ योजना में कृषि-विकास के लिए केवल १३.८ प्रतिशत निर्धारित किया गया है, जबकि उद्योगों एवं खनिजों के विकास के लिए निर्धारित राशि २० प्रतिशत से बढ़ाकर २५ प्रतिशत कर दी गयी है। लघु उद्योगों के लिए आबंटित राशि भी ४ प्रतिशत से घटाकर ३ प्रतिशत कर दी गयी है। इन सबसे न तो बेरोजगारी की समस्या ही हल होगी और न मूल्यों में स्थिरता आ सकेगी।

जबकि साधन-स्रोतों का पूरा चित्र उपलब्ध नहीं है, तब २५ अरब रुपये के अतिरिक्त कराधान का सुझाव दे दिया गया है। कराधान चरम सीमा को पहुँच चुका है—बल्कि उसको पार कर चुका है। आर्थिक गतिविधियों में वृद्धि और उससे

प्राप्य राजस्व में वृद्धि के अतिरिक्त किसी प्रकार के अतिरिक्त कराधान की कोई गुंजाइश नहीं है। चतुर्थ योजना के द्वारा 'सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी' की ही हत्या हो जाने की सम्भावना है।

इस नोट को तैयार करते समय योजना आयोग ने प्रधानमंत्री (श्री शास्त्री) द्वारा आयोजना एवं प्राथमिकताओं के सम्बन्ध में सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त किये गये दृष्टिकोणों पर समुचित विचार नहीं किया है। आयोग अपने पूर्व के विचारों से इस प्रकार प्रभावित है कि वह कुछ नया सोच ही नहीं सकता। यह वांछनीय है कि आयोग का ढाँचा बदला जाय और ऐसे लोगों को, जो अनुभव पर आधारित निर्णय ले सकते हों और प्रधानमंत्री की भावनाओं के अनुरूप योजना तैयार कर सकते हों, यह कार्य सौंपा जाय।

(२६ अक्टूबर, १९६४)

आर्थिक प्रगति की समस्याएं

(एक साक्षात्कार 'आर्गेनाइजर' के सम्पादक द्वारा)

प्रश्न : क्या आप देश की आर्थिक प्रगति से सन्तुष्ट हैं?

उत्तर : नहीं, मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ।

प्रश्न : आपके विचार में क्या और कहाँ गलती है?

उत्तर : मेरे विचार से हमारे विकास-कार्यों को पूँजी पर कम, और श्रम पर अधिक निर्भर होना चाहिए। मैं यह भी सोचता हूँ कि इसे कम आयातोन्मुख भी होना चाहिए।

प्रश्न : क्या आप कुछ ठोस उदाहरण दे सकते हैं?

उत्तर : निश्चय ही। हम अपने बांधों को ही लें। हमने उन्हें बनाने के लिए खर्चीली मशीनें आयात की हैं। मैं समझता हूँ कि हमें बाँधों को बनाने के लिए अधिक श्रमिकों का उपयोग करना चाहिए था। मैं देखता हूँ कि चम्बल-योजना पर कार्य करनेवाले मैसूरी इंजीनियरों ने अपनी स्थानीय योजनाओं के अनुभव पर वैसा कर दिखाया। मेरी इच्छा है कि देश के अन्य बांधों पर भी वैसा ही किया गया होता।

मैं यह भी सोचता हूँ कि हमें छोटी बाँध-योजनाओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए था। उसमें कम खर्च होता, अधिक गति से उपयोग होता और निश्चय ही वे जल्दी भी सम्पन्न होतीं तथा अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता।

प्रश्न : कोई अन्य उदाहरण?

उत्तर : हाँ, हाँ। मैं समझता हूँ कि हम बहुत सारे भवन बनवा रहे हैं और हम उन्हें पूरे का पूरा सीमेण्ट से बनवाते हैं। हम स्थानीय रूप से तैयार की गयी ईंटों का उपयोग क्यों नहीं कर सकते? उससे न केवल सीमेण्ट के परिवहन का रेलवे पर पड़ रहा दबाव घट जाता, बल्कि स्थानीय विकेन्द्रीकृत ईंट-भट्टा-उद्योग को भी प्रोत्साहन मिलता।

हम जहाजों का निर्माण करने के लिए जहाजगाह (शिपयार्ड) बनवा रहे हैं, ताकि हम अपना व्यापार चला सकें। शायद इस स्तर पर हमारे लिए जहाज खरीद लेना अधिक सस्ता पड़ेगा। हम अपने न्यून पूँजी-साधन को फँसा रहे हैं। हमारा विनियोजन इस दृष्टि से होना चाहिए कि हमारा कामकाज शीघ्रता से प्रारम्भ हो

जाय। मेरा विचार है कि सरकार छोटे उद्योगों की ओर उतना ध्यान नहीं देती, जितना देना चाहिए।

प्रश्न : कोई उदाहरण?

उत्तर : हमारे हल्के इंजीनियरिंग उद्योग ने बहुत अच्छा काम किया है। वे विद्युत् मोटर, पम्प आदि निर्यात कर रहे हैं, पर उन्हें अपनी आवश्यकता के अनुसार इस्पात का कोटा मिलने में कठिनाई होती है। बल्कि बहुधा ऐसा होता है कि सच्चे उपभोक्ताओं को लाइसेंस देने के बदले 'राजनीतिक व्यवसायियों' को दे दिया जाता है।

इस त्रुटिपूर्ण विकास का एक गंभीर परिणाम यह हुआ है कि आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति कम हो पाती है और इसलिए उपभोक्ता सामान के मूल्य लगातार बढ़ते जा रहे हैं।

प्रश्न : क्या आप ऐसा नहीं समझते कि मोटे तौर पर लोग पहले की अपेक्षा अच्छी तरह जीवन-यापन कर रहे हैं?

उत्तर : भिन्न-भिन्न वर्गों में स्थिति भिन्न-भिन्न है। भूमिहीन श्रमिक की दशा अत्यन्त खराब है। सम्पूर्ण वेतनजीवी समाज अर्थात् समाज के बँधी आयवाले वर्ग की भी वही दशा है। मध्यम वर्ग के किसान की दशा पहले से अधिक खराब नहीं है। बड़े किसान को सबसे अधिक लाभ हुआ है। कारखाने में काम करनेवाले कामगारों की हालत छोटे नगरों की अपेक्षा बड़े नगरों (cities) में अच्छी है। व्यवसायी की दशा अच्छी चल रही है। वरिष्ठ वकीलों, डाक्टरों आदि की दशा भी अच्छी है। पर आप देखेंगे कि जनता के अधिकांश भाग की हालत पहले की अपेक्षा बुरी है। पहले क्लर्क और शिक्षक एक 'छोटा साहब' माना जाता था। आज वह साफ वस्त्रधारी मात्र रह गया है। बस। उसे कोई बचत नहीं, उसका कोई स्तर नहीं।

प्रश्न : यदि ऐसा है, तो वे आंदोलन क्यों नहीं करते?

उत्तर : तीन वर्ष पहले केन्द्रीय सरकारी कर्मचारियों की जो हड़ताल हुई थी वह इस गहरे असन्तोष की ही एक अभिव्यक्ति थी। कार्यालय में उनका इतना समय लग जाता है और कार्यालय जाने और कार्यालय से आने में भी इतना समय लग जाता है कि उनके पास आंदोलन करने के लिए बहुत कम समय या शक्ति रह जाती है। शायद ऐसा भी है कि श्वेतवस्त्रधारी वर्ग के लिए आन्दोलन सामाजिक दृष्टि से उतना सम्मानास्पद नहीं माना जाता।

प्रश्न : क्या वेतनभोगी वर्ग पहले से अच्छा नहीं दिखाई देता?

उत्तर : हाँ, दृश्य बदल गया है। उपभोग का मानदण्ड बदल गया है। महीने में एक बार सिनेमाघर जाना अनिवार्य-सा बन गया है। किन्तु, उनके बच्चों को पीने के लिए दूध नहीं मिलता। यह मत भूलिए कि १९३९ से अब तक मूल्य बढ़कर पाँच गुने हो गये हैं, किन्तु एक क्लर्क का प्रारम्भिक वेतन ४० रु. से बढ़कर केवल १०५ तक ही पहुँच पाया है। केरल और मैसूर आदि में ग्रेजुएटों का प्रारम्भिक वेतन ७० रु. है।

प्रश्न : सम्भवतः आज अधिक गृहिणियाँ काम में लगी हैं?

उत्तर : बहुत अधिक नहीं, और देश के अधिकांश भाग में भी नहीं।

प्रश्न : अब खाद्यान्न के मूल्य ऊँचे है। फिर यह कैसी बात है कि किसान को अब भी पहले की अपेक्षा अधिक पैदावार करने के लिए प्रोत्साहन नहीं है?

उत्तर : किसान पहले से अधिक उत्पादन कर रहा है। और, उसे जो मूल्य मिलता है, वह ऊँचा नहीं है। वह केवल 'ठीक-ठाक' है। उसकी आवश्यकता-पूर्ति की लागत भी उसे ज्यादा पड़ रही है।

प्रश्न : मूल्य-स्तर के सम्बन्ध में खाद्यान्नों का मूल्य सबसे प्रमुख समस्या है। खाद्यान्नों का मूल्य ऊँचा होने के कारण ही अन्य वस्तुओं के मूल्य ऊँचे चढ़ रहे है, और वेतनभोगी पिस रहे है। आप जितना ही किसान को देते जायेंगे, उतना ही क्लर्क को कष्ट पहुँचते जायेंगे।

उत्तर : इससे बचने का भी एक मार्ग है। सरकार को एक निश्चित मात्रा से, उदाहरण के तौर पर २०० रु. प्रति मास से, कम आयवालों के लिए खाद्य-वस्तुओं पर आर्थिक सहायता (सब्सिडी) देनी चाहिए। सरकार प्रशासन-व्यय में, जिसमें सरकारी राजस्व का २० प्रतिशत खप जाता है, कमी करके इसके लिए सरलता से धन जुटा सकती है। सरकारी कार्यालयों की बेशुमार वृद्धि में कटौती आवश्यक है।

प्रश्न : क्या आप मानते हैं कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्ण शक्ति से योगदान कर रहा है? क्या देश में अत्यधिक अकर्मण्यता नहीं है?

उत्तर : हाँ, वह बड़ी मात्रा में है।

प्रश्न : क्या आप ऐसा समझते हैं कि सादगी और त्याग का आदर्श इसका कारण है? क्या हमें इस त्याग की भावना का ही त्याग नहीं कर देना चाहिए?

उत्तर : सुनने में बड़ा आकर्षक लगता है। परन्तु मैं समझता हूँ कि हमारे समाज ने कई आदर्श रखे हैं। धन कमाने को स्वयं में कोई अच्छी बात नहीं माना गया है।

हमारे समाज को कार्यक्षम बनाने का सर्वोत्तम मार्ग है एक महान् राष्ट्रीय लक्ष्य की ओर लोगों के मस्तिष्क को मोड़ देना। उदाहरणार्थ, भारत और पाकिस्तान का पुनः एकीकरण एक लक्ष्य हो सकता है। भारत से चीनी आक्रामकों को दूर करना भी एक लक्ष्य हो सकता है।

प्रश्न : समाजवाद के एक प्रेरणास्पद लक्ष्य बन सकने की संभावना के बारे में आपका क्या विचार है?

उत्तर : मैं समझता हूँ कि समाजवाद का अर्थ भिन्न-भिन्न लोगों के लिए भिन्न-भिन्न लगभग आधा दर्जन वस्तु है। यह स्पष्ट है कि इसने किसी को प्रेरणा नहीं दी है। जब समाजवाद का अर्थ 'राष्ट्रीयकरण' है और राष्ट्रीयकरण का अर्थ गिने-चुने कृपाभाजनों को लाइसेंस देना है—जैसा कि खाद्यान्न-व्यापार के बारे में राजस्थान में हुआ—तब यदि समाजवाद से किसी को प्रेरणा नहीं मिलती, तो इसमें आश्चर्य भी क्या है।

प्रश्न : क्या आप विकास की गति को तीव्र बनाने के लिए कोई अन्य ठोस सुझाव दे सकते हैं?

उत्तर : वर्तमान में आयकर और निगम-कर इतना ऊँचा है कि लोग कर-चोरी करते हैं। जिसका परिणाम है भारी मात्रा में काला धन, जो सट्टेबाजी के द्वारा हमारी अर्थव्यवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न करता है। मेरी इच्छा है कि सरकार कालडोर के सुझावों की पूरी योजना को स्वीकार करे, और कराधान को घटाकर अधिकतम ४५ प्रतिशत पर ले आये। फिर, २५० रु. प्रतिमास की न्यून आय पर भी कर की आवश्यकता नहीं है। कम से कम इससे दूनी आय पर कर लगना आरंभ होना चाहिए। इससे आयकर-अधिकारियों को ऐसे अधिक कार्य से मुक्ति मिल जायेगी, जिससे बहुत कम आय होती है। मेरा यह भी सुझाव है कि नाममात्र की कर-दर को काटने के बाद सरकार घोषित आय को सच मान्य करे। बानगी के तौर पर जाँच के समय जो लोग करचोरी के दोषी पाये जायँ, उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही की जा सकती है। मेरा विचार है कि इस प्रकार की पद्धति अपनाने पर सरकारी कोष में वर्तमान कर-पद्धति की तुलना में, जिसमें हर करदाता के साथ एक ठग के रूप में व्यवहार किया जाता है, अधिक राजस्व आ सकेगा।

(१३ अप्रैल, १९६४)

मोरारजी का १९६३ का बजट

वर्तमान आपात-स्थिति में हर कोई एक प्रतिरक्षामूलक बजट की आशा रखता था। वित्तमंत्री ने उस सीमा तक आशा की पूर्ति की है, जहाँ तक उन्होंने प्रतिरक्षा-व्यय में पर्याप्त वृद्धि की है। यह स्वागतार्ह है। फिर भी, प्रयास यह होना चाहिए कि इस राशि का समुचित उपयोग हो, और देश की प्रतिरक्षा पूर्णतः सुरक्षित हो जाय। चूँकि सुरक्षात्मक कारणों से प्रतिरक्षा-बजट को संसद् में अधिक विवरण के साथ नहीं प्रस्तुत किया गया है, यह उचित होगा कि प्रतिरक्षा परिषद् या प्रतिरक्षा उपसमिति इस प्रश्न की ओर अधिक ध्यान दे।

हम इस दृष्टिकोण से सहमत हैं कि प्रतिरक्षा और विकास के कार्य साथ-साथ चलें। यदि विकास की उपेक्षा की जायेगी तो आगे चलकर प्रतिरक्षा-कार्य दुर्बल पड़ जायेगा। किन्तु यह मानना गलत होगा कि तृतीय योजना वास्तविकतया विकास की योजना है, जो सुदृढ़ प्रतिरक्षा का आधार बन सकती है। योजना और सरकार की नीतियों में मूलभूत संशोधन की आवश्यकता है। वर्तमान बजट में युद्ध लड़ने में सहायक अर्थव्यवस्था के ठोस दृष्टिकोण को नहीं अपनाया गया है।

सरकार की नीतियों के कारण देश की अर्थव्यवस्था गंभीर तनाव में है। अब जब युद्ध के कारण अतिरिक्त कर लगाये गये हैं, सुधारात्मक कदम उठाने की अतीव आवश्यकता है। सरकार ऐसा कोई भी पग उठाने में असफल रही है।

हम वर्तमान वर्ष के बजट का विश्लेषण करें। गत वर्ष जब वित्तमंत्री ने अपना बजट प्रस्तुत किया था, उन्होंने ६० करोड़ रुपये के राजस्व-अंतर को उतनी ही राशि का अतिरिक्त कर लगाकर पूरा करने का प्रस्ताव रखा था। इस प्रकार ७२ लाख रु. की लघु बचत रह गयी थी। संशोधित अनुमानों के अनुसार नये करों से भारी आय होने के बावजूद २२.०६ करोड़ रुपये का राजस्व-घाटा रह गया है। राजस्व और पूँजी-बजट, दोनों बजटों को मिलाकर सरकार का इरादा केवल १ अरब ५० करोड़ रुपये के घाटे की अर्थव्यवस्था का सहारा लेने का था। अब वित्तमंत्री २ अरब ४० करोड़ रु. आँकड़ा बता रहे हैं। उन्होंने राष्ट्रीय संकटकालिक स्थिति और उसके परिणामस्वरूप प्रतिरक्षा-व्यय में वृद्धि के नाम पर इस त्रुटि का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया है।

किन्तु वे इस प्रकार एक गलत छाप डालना चाहते हैं। कम्यूनिस्ट चीन के आक्रमण के कारण हमारा प्रतिरक्षा-व्यय राजस्व (संशोधित) के अंतर्गत ३४३.४७ करोड़ रुपये के बजट-आँकड़े से बढ़कर ४५१.८१ करोड़ रुपये और पूँजी-बजट के अन्तर्गत ३२.६१ करोड़ रुपये से बढ़कर ५२.७५ करोड़ रुपये हो गया। इस प्रकार कुल केवल १२८.४६ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है। यदि हम सरकार के राजस्वों पर दृष्टि डालें, तो उनमें भी १२० करोड़ रुपये की वृद्धि दिखाई पड़ती है, जो १३८०.६३ करोड़ रुपये के बजट-आँकड़े से बढ़कर १५००.२५ करोड़ रुपये के संशोधित अनुमान पर पहुँच गये हैं। इस प्रकार यदि सरकार ने अन्य विभागों में अनावश्यक व्यय को कम रखने की सतर्कता दिखायी होती, तो इतना अधिक घाटा रहने का कोई कारण नहीं था। साथ ही, जनता ने राष्ट्र के आह्वान को स्वीकार करते हुए संकटकाल की घोषणा के बाद विभिन्न कोषों के अंतर्गत १२३.६३ करोड़ रुपये का योगदान किया है।

स्पष्ट है कि जनता ने अतिरिक्त बोझ को वहन कर लिया है। यदि कहीं च्युति है तो वह सरकार की ओर है। यदि यह अपव्यय नहीं होता, तो वर्तमान वर्ष का बजट एक बचत का बजट रहा होता। यदि सरकार जनलेखा समिति (Public Accounts Committee) द्वारा सुझायी गयी मितव्ययिता पर चली होती, तो वह भावी खर्च की पूर्ति के लिए निश्चय ही कुछ बचा सकी होती।

इस अतिरिक्त व्यय का एक कारण सात राज्यों को उनके साधन-स्रोतों में सुधार करने के लिए तदर्थ ऋणों (Adhoc Loans) की स्वीकृति था। राज्यों को केन्द्र से अधिकाधिक स्रोत उपलब्ध कराये जा रहे हैं। तृतीय वित्त आयोग ने केन्द्रीय करों में उनका अंश (हिस्सा) और अनुदान बढ़ा दिया है। इसके अतिरिक्त केन्द्र भी प्रतिवर्ष उनको भारी अनुदान देता रहा है। जबकि द्वितीय योजनावधि में केन्द्र से राज्यों को केवल २८६७.६२ करोड़ रुपये अंतरित किये गये, तृतीय योजना आरम्भ होने के बाद से अब तक ही उतनी राशि उनके हिस्से में दी जा चुकी है। इस वर्ष के बजट में यह राशि १००८.७२ करोड़ रुपये की ऊँची धन-राशि दिखायी गयी है। इस वर्ष के लिए संशोधित अनुमान ६८२.४४ करोड़ रु. बताया गया है। १९६२-६३ के लिए राज्यों का कुल राजस्व और पूँजी बजट १७००.६१ करोड़ रु. है। स्पष्ट ही वे अपने स्रोतों का ६० प्रतिशत से अधिक केन्द्र सरकार से प्राप्त करते हैं। इस स्थिति में सुधार की आवश्यकता है। या तो राज्यों को अधिक साधन-स्रोत जुटाने के लिए कहना चाहिए या उनको 'तेते पाँव पसारिए जेती लांबी सौर' का पालन करने के

लिए कहना चाहिए।

केन्द्र और राज्यों के बीच विभिन्न करों के विभाजन के पुनर्गठन की भी आवश्यकता है। वर्तमान स्थिति में राज्य अधिकाधिक केन्द्र पर निर्भर होते जायेंगे, और इस प्रकार अनुत्तरदायी बन जायेंगे। उन राज्यों के सम्बन्ध में, जो आरक्षित निधि पर 'ओवर-ड्रा' जारी रखे हुए हैं, समुचित सांविधानिक कदम उठाना आवश्यक है। वित्तमन्त्री द्वारा दिया गया परामर्श या शुभाशा की अभिव्यक्ति पर्याप्त नहीं है। राष्ट्रपति को धारा ३६० के अंतर्गत कार्यवाही करनी चाहिए और उन राज्यों में 'आर्थिक संकटकाल की स्थिति' घोषित कर देनी चाहिए।

जहाँ तक अगले वर्ष के बजट का प्रश्न है, जनता और अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव की चिन्ता न करते हुए वित्तमंत्री ने जहाँ तक संभव हो, वहाँ तक विस्तृत और गहरा जाल फैलाने का प्रयत्न किया है। जनता असह्य बोझ का वहन करने के लिए भले ही पर्याप्त देशभक्त हो सकती है, पर अर्थव्यवस्था तो प्राणधारी व्यक्ति की भाँति साथ नहीं दे सकती। वित्तमंत्री जब यह कहते हैं, "मैंने इस बात पर बल दिया है कि एक सुनियोजित अर्थव्यवस्था में कराधान-नीति न केवल खजाने के लिए राजस्व उगाहने के उद्देश्य की पूर्ति करती है, बल्कि आर्थिक प्रगति की दर को उन्नत करने और उसके विभिन्न क्षेत्रों के बीच असन्तुलन को सुधारने के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह आर्थिक नीति का भी एक साधन है", तब वे आर्थिक सिद्धान्तों के जानकार लगते हैं, किन्तु, उनके बजट-प्रस्ताव में इस दृष्टिकोण की पूर्ण उपेक्षा की गयी है। वित्तमंत्री ने अनिवार्य जमा योजना (Compulsory Deposit Scheme) के अलावा, जिसके अंतर्गत उन्होंने लगभग ७० करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा व्यक्त की है, २९६.५० करोड़ रुपये के करों का प्रस्ताव रखा है। इस प्रकार ३६६.५० करोड़ रुपये का अतिरिक्त बोझ पड़ेगा। राज्य सरकारें भी विभिन्न कर लगाने का प्रस्ताव रख रही हैं, जिनके १३५ करोड़ रुपये से भी ऊपर पहुँच जाने की संभावना है। स्थानीय संस्थाएँ कितना बोझ डालेंगी, उसका अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि जनता अब तक जितना करभार उठाती रही है, उसकी अपेक्षा उसे इस वर्ष लगभग ५ अरब रुपये अधिक चुकाने पड़ेंगे। और यह सारा बोझ प्रतिरक्षा के नाम पर डाला जा रहा है। किन्तु तथ्य यह है कि प्रतिरक्षा-सेवाओं पर ४ अरब रुपये से अधिक के अतिरिक्त व्यय की संभावना नहीं है।

वर्तमान कर सभी वर्गों के लोगों पर प्रहार करते हैं, और यह प्रहार वे उनके मर्मकेन्द्रों पर करते हैं। उत्पादन-शुल्क और चुंगी करों का अवश्य ही मुद्रास्फीति-कारी प्रभाव पड़ेगा। मूल्यों को, जो सर्वदा ही वृद्धि का रुख दिखाते रहे हैं, संकटकाल की लहर में किसी प्रकार नियंत्रण में रखा जा सका। इसका श्रेय जनता—उपभोक्ताओं, उत्पादकों और व्यापारियों—को है। किन्तु अब वे इन नये करों के प्रभाव को निःसत्त्व नहीं कर सकते। भारत में उपभोग-ढाँचा प्रायः अलवींली माँग का है। एक सीमा है। जनता अपनी आवश्यकताओं को उससे अधिक नहीं कम कर सकती। ऐसा अनुमान है कि इन नवीनतम करों के परिणामस्वरूप पारिवारिक खर्च में २५ से ३० प्रतिशत वृद्धि हो जायेगी। यह बहुत अधिक है।

प्रत्यक्ष कर मध्यम वर्ग एवं विनियोगकर्ता, दोनों पर आघात करेंगे। युद्ध के लिए एक विस्तृत औद्योगिक आधार आवश्यक है। किन्तु वित्तमंत्री ने निजी क्षेत्र की आवश्यकताओं पर थोड़ा-सा भी ध्यान नहीं दिया है। ऐसे समय में जबकि 'शेयरों' के भाव गिर रहे हैं, ये प्रस्ताव घातक सिद्ध होंगे। अधि-लाभकर (Super Profit Tax) स्वर्ण और मद्यनिषेध नीतियों की भाँति ही आर्थिक दृष्टि से दुर्बल है।

जनता पर इन अभूतपूर्व बोझों के पश्चात् भी वित्तमंत्री सम्पूर्ण बजट-स्थिति को संतुलित बनाने में विफल हो गये हैं। पूँजीगत बजट में १५१ करोड़ रुपये का घाटा दिखाया गया है, जिसकी पूर्ति ट्रेजरी-बिलों के विस्तार के द्वारा करने का प्रस्ताव रखा गया है। तृतीय योजना ने घाटे की अर्थव्यवस्था को सीमित कर दिया है। किन्तु जिस प्रकार वित्तमंत्री चल रहे हैं, वे शीघ्र ही उस सीमा को पार कर जायेंगे। इन सबका अर्थ होगा मूल्यवृद्धि, जिसके परिणामस्वरूप वेतनवृद्धि की माँग उठेगी, और उसके फलस्वरूप लागत-ढाँचे में वृद्धि हो जायेगी। वित्तमंत्री ने निर्यात-वस्तुओं के लिए कुछ विशेष छूट स्वीकृत की हैं। निर्यात-उद्योग को आर्थिक सहायता (सब्सिडी) देने का कुछ औचित्य हो सकता है, किन्तु यदि देशी और विदेशी मूल्यों के बीच अधिक काल तक अंतर रहने दिया गया तो उससे भ्रष्टाचार पैदा होगा और आर्थिक ढाँचा अनार्थिक नींव पर आधारित हो जायेगा। मूल्यों को स्थिर करने के लिए सरकार को अपनी नीतियों में सुधार करना चाहिए।

सरकार ने प्रशासन में मितव्ययिता करने के लिए कुछ नहीं किया है। सामुदायिक विकास और सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों को, जो पूर्णतः असफल सिद्ध हो चुके हैं, अब भी बनाये रखा गया है। जहाँ तक प्रशासन का सम्बन्ध है, व्यय में वृद्धि हुई है।

वेतन और भत्तों के रूप में १९६१-६२ में वास्तविक व्यय ६८.४० करोड़ था, पर इस बजट में उस मद में १२१.१५ करोड़ रुपये का प्रस्ताव रखा गया है। इस प्रकार उसमें लगभग २३ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है। सार्वजनिक लेखा समिति ने प्रतिवर्ष ६० करोड़ रुपये से लेकर १ अरब रुपये तक की मितव्ययिता करने का सुझाव दिया है। किन्तु हम देखते हैं कि सरकार विपरीत दिशा में ही चल रही है। प्रशासन-व्यय अत्यन्त भारी हो रहा है।

१९६१-६२ में सरकारी अधिकारियों का वेतन १७.२१ करोड़ रुपये और व्यवस्थापन-व्यय ५६.१० करोड़ रुपये था। अब इन मदों की राशि बढ़ कर क्रमशः २३.१८ करोड़ रुपये और ६५.७० करोड़ रुपये हो गयी है। इस प्रकार गत दो वर्षों में अफसरों का वेतन कुल वेतन-देयक के १७.४ प्रतिशत से बढ़कर १९.१ प्रतिशत पर पहुँच गया है। यद्यपि बताया जाता है कि ८० प्रतिशत राजाओं ने प्रिवीपर्स में १० प्रतिशत की कटौती मान्य कर ली है, प्रिवीपर्स खाते में दी जानेवाली धनराशि में कोई उल्लेखनीय कमी नहीं हुई है।

बजट में अर्थशास्त्र के नियमों का पालन नहीं किया गया है, तथा मितव्ययिता की उपेक्षा की गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि वित्तमंत्री ने बजट-प्रस्तावों के साथ प्रस्तुत 'आर्थिक सर्वेक्षण' (Economic Survey) के प्रकाश में अपने नये प्रस्तावों को आधारित करने की ओर ध्यान नहीं दिया है। सर्वेक्षण में यह बिना हिचक स्वीकार किया गया है कि चीनी आक्रमण के कारण उपस्थित चुनौती का सामना करने के लिए जनता ने अवसर की माँग के अनुकूल तत्परता प्रदर्शित की। उसमें कहा गया है कि "संकटकालीन स्थिति की लहर में आर्थिक नीति का पहला उद्देश्य यह है कि अर्थव्यवस्था के सामान्य सन्तुलन को अस्तव्यस्त किये बिना यथासंभव त्वरित गति से प्रतिरक्षा-तैयारी की जाय, और उपलब्ध प्रमाणों से यह सिद्ध है कि जनता के स्वयंस्फूर्त सहयोग से यह तात्कालिक उद्देश्य पूरा हो गया है।" अब तात्कालिक उद्देश्य पूर्ण हो जाने के बाद दीर्घकालिक आवश्यकताओं की पूर्ति सुविचारित और समन्वित नीतियों के आधार पर होनी चाहिए। किन्तु वित्तमंत्री ने गलत कदम सुझाये हैं। सर्वेक्षण ने सावधान किया है और कहा है कि "अनिश्चतता की सर्वमान्य भावना कायम है, और नये ऋणपत्रों पर उसका स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ है.... किन्तु यह स्पष्ट है कि आगामी महीनों में अर्थव्यवस्था एक बड़ी सीमा तक निजी विनियोजकों के विश्वास पर और आवश्यक कामकाज के विस्तार के लिए

आवश्यक कोष प्राप्त करने की उनकी योग्यता पर निर्भर करेगी।" वित्तमंत्री ने इस विश्वास को और भी झकझोर दिया है।

न केवल नये विनियोजकों के कान खड़े हो गये हैं, बल्कि वर्तमान उद्योगों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना है। नये चुंगी-करों का उद्देश्य आयात पर नियन्त्रण रखना है, पर सर्वेक्षण में कहा गया है कि :

"आयात-नियंत्रणों में अधिकाधिक वृद्धि के कारण वह स्तर अब आ पहुँचा है, जब नियंत्रणों में और तनिक भी वृद्धि से न केवल ऊँचे उत्पादन में, अपितु ऊँचे निर्यात के कार्य में भी बाधा पड़ जायेगी।"

अनिवार्य जमा बोजना एक ऐसी नयी पद्धति है, जिसका अल्प-बचत और छोटे व्यक्तियों पर प्रभाव पड़ना संभव है। यह पक्षपातपूर्ण है और इससे कृषिकारों पर बोझ पड़ता है, जिनको सरकार ने जानबूझकर उपेक्षित रखा है। स्वर्णनीति से ग्रामीण क्षेत्रों में ऋण प्राप्त करना एक समस्या बन गयी है। अब यदि सरकार ५० प्रतिशत भू-राजस्व को आवश्यक जमा के रूप में ले लेती है, तो कृषिकार के पास कम पूँजी बच जायेगी। इससे कृषि-उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। इसके अलावा, विभिन्न राज्यों में या एक ही राज्य के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भी भू-राजस्व की कोई एकरूप दर नहीं है। सरकार इस कठिनाई को दूर करने के लिए क्या विचार रखती है ? अनिवार्य जमा की एक ही दर से सर्वत्र वसूली निश्चित रूप से न्यायपूर्ण नहीं है।

जहाँ तक वेतनभोगी कर्मचारियों का सम्बन्ध है, १५०० रु. वार्षिक से कम पानेवाले कर्मचारियों को मुक्त रखा गया है। कृषकों के सम्बन्ध में ऐसा क्यों नहीं किया गया ? करोड़ों किसान ऐसे हैं, जिनकी आय १५०० रु. से कम है। नगरों में रहने वाले के समान ही हैसियतवाले लोगों की अपेक्षा उनसे अलग बर्ताव क्यों होना चाहिए ?

वित्तमंत्री को इन प्रस्तावों पर फिर से विचार करना चाहिए, और लोगों की आवश्यकताओं में कमी करने का परामर्श देने के पहले सरकार को स्वयं कमखर्ची की ओर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि इस दिशा में उसमें इतनी ढोलमपोल है कि वह सम्मान और दक्षता दोनों खो चुकी है।

(११ मार्च, १९६३)

भारत सरकार की स्वर्णनीति

स्वर्ण-नियन्त्रण आदेश को लागू हुए एक माह से अधिक हो गया। प्रति वयस्क ५० ग्राम और प्रति अवयस्क २० ग्राम की मुक्त सीमा से अधिक आभूषणेतर सोने की मात्रा घोषित कर देने की अंतिम तिथि बढ़ाकर २८ फरवरी कर दी गयी है। स्पष्ट है कि घोषणा की अब तक की मात्रा नीति-निर्माताओं की आशा के अनुरूप नहीं रही है।

स्वर्ण-बॉण्डों में धन लगाने की तिथि भी आगे बढ़ा दी गयी है। उसे भी अत्यन्त अल्प समर्थन मिला है। एक प्रेस-विज्ञप्ति के अनुसार उन बॉण्डों से केवल ३ करोड़ रुपये प्राप्त हुए। इस तथ्य के बावजूद कि सोने में 'तैयार' या 'वायदा' कामकाज की अनुमति नहीं है, उसका नाम के लिए जो भाव बोला जा रहा है, उसमें कोई गिरावट नहीं हुई है।

१२ फरवरी को दिल्ली बुलियन में डायमण्ड सोने का भाव १०८ रु. (नाममात्र के लिए) प्रति १० ग्राम था। स्वर्ण-नियंत्रण-आदेश लागू होने के एक दिन पहले ८ जनवरी को यह १०७.७५ रु. के आसपास रहा। स्वर्ण नियंत्रण आदेश लागू होने के बाद दो या तीन दिनों को छोड़कर नयी स्वर्ण-नीति का सोने के मूल्यों पर कोई प्रभाव पड़ता नहीं प्रतीत हुआ।

गत वर्ष नवम्बर में सोने के भाव नीचे लाने के लिए सरकारी कार्यवाहियाँ की जाने के वित्तमंत्री के संकेत से जो व्यापारी एकदम आतंकित हो गये थे, वे इस बार सामान्य बने रहे। या तो उन्होंने सरकारी कार्यवाही के आघात के प्रति अपना हृदय कड़ा कर लिया, या नयी नीति गंभीरता और प्रभावशीलता की दृष्टि से उनकी अपेक्षा से कहीं कम सिद्ध हुई है।

नवम्बर में संचित सोने के चतुर्दिक् बिक्री-'आफर' दिखाई पड़ रहे थे और हतोत्साह बिकवाली के कारण भाव गिर कर ८४.५० रु. प्रति ग्राम के निम्न स्तर पर आ गया, जबकि गत वर्ष वह १२६.५० रु. प्रति १० ग्राम के एक सर्वकालिक ऊँचे स्तर तक पहुँच गया था। यह गिरावट बहुत भारी थी। इससे सरकार को प्रोत्साहन मिला और उसे यह विश्वास हो गया कि वह सोने का भाव घटाकर अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर ला सकेगी। फिर भी, आतंक की स्थिति शीघ्र ही समाप्त हो गयी और

व्यापारियों में विश्वास जाग गया, तथा भाव बढ़ने लगे। केन्द्रीय वित्तमंत्री द्वारा कठोर सरकारी कार्यवाही की जाने की धमकी और सोने के मूल्यों में वृद्धि के विरुद्ध रिजर्व बैंक के सतत् निर्देशों के बावजूद इस भाववृद्धि की अवधि मे सामान्य सीमित घट-बढ़ के अलावा सोने के भाव में कोई कमी नहीं हुई, और वह बढ़कर ११६ रु. प्रति दस ग्राम के ऊँचे स्तर पर पहुँच गया। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भाव आना तो दूर रहा, उल्टे उसमें वृद्धि का ही रुख दिखाई पड़ रहा है।

सरकार की स्वर्ण-नीति का उद्देश्य अभी तक पूर्ण होता नहीं दिखाई देता। स्वर्ण-नियंत्रण-आदेश जारी होने के दिन ६ जनवरी १९६३ को श्री मोरारजी भाई ने अपने रेडियो-भाषण में कहा था कि "हमारे देश की परिस्थितियों मे स्वर्ण-नीति का मूलभूत उद्देश्य न केवल संकटकाल की अवधि के लिए, अपितु सर्वदा के लिए सोने की माँग में सतत् कमी लाने का दृढ़ प्रयास होना चाहिए।" यह सही है कि केवल गत एक मास के रुख के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना सही नहीं होगा, फिर भी, स्वर्ण-नीति के किसी विश्लेषण में बाजार के रुख की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

कम्यूनिस्ट चीन के आक्रमण के कारण उत्पन्न संकटकाल की स्थिति सोना बाहर निकालने के उद्देश्य से स्वर्ण-नीति के क्रियान्वयन के लिए निश्चय ही उपयुक्त अवसर था। पर पूरी योजना के लिए काफी समय लगा। स्वर्ण-बॉण्ड ५ नवम्बर १९६२ को जारी हुए, जबकि स्वर्ण-नियंत्रण-आदेश दो महीने बाद ६ जनवरी १९६३ को जारी हुआ। इस बीच की अवधि में संकटकाल विषयक मनोवैज्ञानिक दबाव युद्धविराम एवं उसके बारे में सरकारी रुख के कारण काफी घट गया था। कोलम्बो-प्रस्तावों की स्वीकृति के साथ राष्ट्र आत्मतुष्टि की भावना से शांत हो गया प्रतीत होता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि देशभक्ति का तीव्र उद्रेक भी बहुत कुछ शान्त हो गया है।

फिर भी, सरकार न केवल स्वर्ण-नीति के क्रियान्वयन के सम्बन्ध में, अपितु उसे तैयार करने के सम्बन्ध में भी संकटकालीन कानून के अन्तर्गत प्रदत्त अधिकारों पर ही निर्भर कर रही है। राष्ट्रीय प्रतिरक्षा कोष (National Defence Fund) को धन और स्वर्ण के रूप में जनता का जो समर्थन मिला है, वह उत्साहप्रद है। किन्तु इस प्रकार के भावनाप्रधान उपाय को दीर्घकालिक उद्देश्ययुक्त आर्थिक नीति तैयार करते समय नहीं अपनाया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान नीति को तैयार करते समय सरकार ने आर्थिक समस्याओं की उपेक्षा कर दी है।

इसके अलावा, देश में संचित सोने के ठीक-ठीक आँकड़े की अनुपलब्धि से भी इसमें बाधा पहुँची है। स्वर्ण-नियंत्रण-आदेश के अन्तर्गत प्रस्तुत किये जाने वाले विवरणों के आधार पर कुल आभूषणेतर सोने के परिमाण एवं उसके वितरण के बारे में लगभग सही अनुमान लगाये जा सकते हैं। अभी तक तो केवल मोटा-मोटा अनुमान लगाया गया है। यह अनुमान लगभग ६ अरब रुपये से लेकर ६१ अरब रुपये के बीच भिन्न-भिन्न है। फिर भी, रिजर्व बैंक का अनुमान अन्तरराष्ट्रीय मूल्य के आधार पर १८ अरब ५० करोड़ रुपये के लगभग है। किन्तु इसमें से अधिकांश सोना अवश्य ही आभूषणों के रूप में ही होगा।

देश के आर्थिक विकास को ध्यान में रखते हुए सोने में विनियोग का कोई औचित्य नहीं है। यह अनुत्पादकता है और गत दशाब्दी से यह हमारे अल्प विदेशी मुद्रा-स्रोत पर भारी दबाव डाल रहा है। सोने में धन लगाने से न व्यक्तिगत आय में और न राष्ट्रीय आय में ही वृद्धि होगी। अतिरिक्त रोजगार के लिए भी इससे पूँजी की व्यवस्था नहीं होती। इसलिए यदि लोग सोना खरीदने के बदले किसी उत्पादक उद्योग में अपनी बचत का विनियोग करें तो उन्हें दोहरा लाभ होगा। इससे न केवल उन्हें ब्याज और लाभ मिलेगा, अपितु विकास की एक प्रक्रिया भी पैदा होगी, जिससे बचत करने और विनियोजन के लिए भारी प्रोत्साहन मिलेगा।

किन्तु लोगों में स्वर्ण के लिए भूख क्यों है? इसके सामाजिक और आर्थिक दोनों कारण हैं। भारत मे जबकि सामाजिक अनिवार्यताएँ ह्रासोन्मुख हैं, परिवर्तित परिस्थितियों के बावजूद आर्थिक कारणों से सोने के लिए अपेक्षाकृत अधिक माँग है। इसका कारण मुख्यतः सरकार की त्रुटियाँ हैं। समझा जाता है कि सोने का तस्कर-व्यापार १९५२-५३ से भारी पैमाने पर आरम्भ हो गया है और लगातार बढ़ता जा रहा है। इसके लिए जो आर्थिक समस्याएँ जिम्मेदार हैं, उन्हें समझ कर सुधार करना चाहिए।

सोने की माँग में वृद्धि का पहला और सबसे बड़ा कारण मुद्रास्फीति है। यदि सरकार कीमतों और अपनी मुद्रा के मूल्य को स्थिर नहीं रख सकती तो खरी धातु में विनियोजन करने की प्रवृत्ति पैदा होना अवश्यम्भावी है।

दूसरा यह कि बैंकिंग और ऋण-सुविधाओं का भी अभाव है। विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में। गाँवों में लोगों के पास अपनी बचत को सुरक्षित रखने का कोई अन्य उपाय नहीं है, सिवाय इसके कि वे उसे स्वर्णाभूषणों में परिणत कर दें। वहाँ कोई बैंकिंग

संस्थान नहीं हैं जहाँ वे विनियोजन कर सकें, और कोई भी व्यक्ति बिना अमानत के उन्हें धन उधार नहीं देगा। स्वाभाविकतया यदि उनके पास स्वर्ण है तो वे आवश्यकता पड़ने पर उसे बंधक रखकर धन प्राप्त कर सकते हैं। ग्रामीण-ऋण-सर्वेक्षण के अनुसार कृषिकारों की ऋण विषयक व्यापक आवश्यकताओं को देखते हुए सहकारिताओं (Cooperatives) और भू-बंधक-बैंकों (Land Mortgage Banks) का योगदान नगण्य-सा है।

जहाँ तक भूमिहीन श्रमिकों और कारीगरों का प्रश्न है, उनके लिए शायद ही कोई ऋण-सुविधाएँ विद्यमान हैं। कष्ट के समय उन्हें सोने या चाँदी के आभूषणों में परिणत अपनी पिछली बचत का ही सहारा लेना पड़ता है। डाकघर के बचत-खाते तथा अन्य बैंकों के होते हुए भी नागरी मध्यम वर्ग की कहानी भी इससे कुछ भिन्न नहीं है। यदि अविलम्ब सहकारिताओं एवं चिटफण्ड आदि के साथ ऋण-संस्थानों का व्यापक प्रबन्ध नहीं किया गया, तो वर्तमान स्वर्ण-नियमों से निश्चय ही इस वर्ग को भारी आघात लगेगा।

सरकार की औद्योगिक और व्यापारिक नीतियाँ भी सोने की माँग में वृद्धि के लिए उत्तरदायी हैं। इन वर्गों की बचत के समानुपात में विनियोजन-सुविधाएँ नहीं हैं। गत सारे वर्षों में निजी शेयर इसुओं (Share Issues) के लिए निर्धारित से अधिक धनराशि निर्गमित होती रही है। स्पष्ट ही ऐसी धनराशि विद्यमान है जो विनियोजन-मार्गों को खोज रही है, जिन्हें समाजवाद से आविष्ट सरकार ने अवरुद्ध कर रखा है। राष्ट्रीयकरण की चर्चा से भी विनियोजकों के कान खड़े हो गये। स्वाभाविकतया ही वे सोने के पीछे दौड़ते हैं, चाहे वह सोना अवैध हो या वैध।

सरकार के करापधान कानून और सेवाओं में व्यापक रूप से फैले भ्रष्टाचार ने भी सोने के लिए माँग बढ़ाने में योगदान किया है। कुछ विशेष पदों पर अधिष्ठित अधिकारियों और व्यवसायी तथा व्यापारी समाज के पास 'काला धन' विद्यमान है, जिसे 'सफेद' नहीं बनाया जा सकता, और इसलिए स्वर्ण में परिणत कर दिया जाता है। यदि सरकार अपनी नीति को सफल बनाने को इच्छुक है तो उसे स्वर्ण-नियंत्रण-नियमों में उल्लिखित उपायों को क्रियान्वित करने के साथ-साथ इन कारणों को भी दूर करना होगा।

जब तक वर्तमान दुरवस्था को जन्म देने वाली सरकार की आर्थिक नीतियों में आमूल सुधार एवं पुनर्निर्धारण नहीं किया जायेगा, तब तक स्वर्ण-नियंत्रण बोर्ड के

अध्यक्ष श्री कोटक, राजा कैन्युट की भाँति, आर्थिक महासागर की स्वर्ण-लहरों को रोक सकने में विफल ही रहेंगे। मोरारजी भाई की स्वर्ण-नीति यद्यपि उद्देश्यों की दृष्टि से श्लाघ्य है, तथापि उसकी भी मद्य-निषेध-नीति के समान ही दुर्गति होगी। इसके कारण सामान्य व्यापार-स्रोत भूमिगत हो जायेंगे, जिसके परिणामस्वरूप राजस्व की क्षति होगी, अधिकारियों के पास और भी अवैध धन आ जायेगा, काला बाजार के कारण सोने के मूल्य में वृद्धि होगी और इसीलिए सोने के तस्कर-व्यापार को और प्रेरणा मिलेगी। इस प्रकार के असमन्वित पग का स्वाभाविक परिणाम होगा सोने का अवैध व्यापार और तस्कर-व्यापार।

अपनी विविध उपशाखाओं के द्वारा स्वर्ण-नीति ने स्वर्णकारों को भी प्रभावित किया है। वर्तमान नियमों के अन्तर्गत वे सब से अधिक प्रपीड़ित हैं। स्वर्ण-नियंत्रण-आदेश जारी होने के बाद वे बेरोजगार हो गये हैं। पहली बात तो यह कि सरकार ने इस मानवीय पहलू को ध्यान में नहीं रखा, और दूसरी बात, वह इतनी निर्दय प्रतीत होती है कि उनके द्वारा किये गये सारे प्रतिनिधित्वों की उसने पूर्णतः उपेक्षा कर दी है।

स्वर्णकार प्रपीड़ित हैं, क्योंकि १४ कैरेट से अधिक शुद्धता के स्वर्ण के गहने बनाना निषिद्ध घोषित कर दिया गया है। गाँवों और कस्बों में काम करने वाले बहुसंख्यक स्वर्णकार इस घटिया किस्म के कठोर सोने के आभूषण नहीं बना सकते। उनके पास आवश्यक प्रशिक्षण और औजारों का अभाव है। साथ ही, गाँवों में शोधन-सुविधा (Refining Facility) नहीं उपलब्ध है, जो मिलावटी सोने के आभूषण बनाने की एक आवश्यक प्रक्रिया है। तांत्रिक बेकारी के अलावा स्वर्णाभूषण बनाने का व्यवसाय नगरों के थोड़े से पूँजीपतियों के हाथों में केन्द्रित हो जायेगा और उसके फलस्वरूप हमारी अतिकुशलतापूर्ण ऐसी स्वर्ण-कारीगरी विनष्ट हो जायेगी, जिसके लिए भारत प्रसिद्ध रहा है और जिससे बहुमूल्य विदेशी मुद्रा भी अर्जित की जाती है।

अब १४ कैरेट के नियम से स्वर्ण की माँग में कमी होगी या नहीं, यह विवादास्पद प्रश्न है। जबकि अधिकारी इस पर बल दे रहे हैं कि माँग कम हो जायेगी, कर्मचारियों का यह मत है कि माँग कम नहीं हो सकेगी। निश्चय ही १४ करैट का स्वर्णाभूषण अपेक्षाकृत सस्ता होगा। किन्तु उसके फलस्वरूप बाजार का विस्तार हो सकता है, और इस प्रकार मोटे तौर पर कहें तो राष्ट्र के अंदर सोने की खपत बढ़ते

जाने की संभावना है। इस प्रकार उन आर्थिक उद्देश्यों की कीमत पर, जिनकी उपलब्धि के लिए स्वर्ण-नीति तैयार की गयी है, अन्य सामाजिक उद्देश्य पूरे होने लगेंगे। विशुद्ध स्वर्णाभूषणों के निर्माण पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा देने से भी देश में ऐसे आभूषणों का तस्कर-व्यापार आरम्भ हो जा सकता है।

यदि आर्थिक कार्यवाहियाँ असफल हो जाती हैं, तो इसमें सन्देह ही है कि स्वर्ण की तस्करी रोकने में (विधिक) कानूनी कार्यवाहियाँ सफल होंगी। चूँकि विशुद्ध सोने के आभूषण रखने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, और चूँकि उन आभूषणों की घोषणा करने की भी आवश्यकता नहीं है, अतः एक बार यदि तस्कर-व्यापार का सोना उपभोक्ता के पास पहुँच गया, तो उसका पता लगाना सरल नहीं होगा। इस तरह अपने स्वर्ण-कारीगरों को वंचित करके हम पाकिस्तान और अन्य पश्चिमी एशियाई देशों के स्वर्णकारों को रोजगार प्रदान करेंगे।

चाहे किसी नीति के निर्माण के पीछे कितनी भी नेकनीयती हो, सभी पहलुओं से कुकल्पित नीति असफल होगी ही। एक माह से भी अधिक के अनुभव, समाज के विभिन्न हितों के द्वारा किये गये प्रतिनिधित्व का उपयोग इस नीति को पूर्ण बनाने के लिए किया जाना चाहिए। जब उद्देश्यों के प्रति सर्वसहमति हो तब एक ऐसी प्रभावकारी नीति बनाने में, जिसमें सभी सहयोग कर सकते हैं, हम विफल रहते हैं और उसके स्थान पर उन उद्देश्यों को 'केवल मैं सही हूँ' के रुख के कारण या किसी एक व्यक्ति या समूह की भ्रान्तियों के कारण विफल बना देते हैं, तो यह एक हास्यास्पद एवं निन्दनीय बात होगी।

(१८ फरवरी, १९६३)

तृतीय योजना : एक विश्लेषण

तृतीय पंचवर्षीय योजना लोकसभा में सोमवार, ७ अगस्त को, जब उसका वर्षाकालीन सत्र आरम्भ हुआ, प्रस्तुत की गयी। योजना का विस्तृत रूप उससे भिन्न नहीं है, जैसा पहले प्रारूप में प्रकाश डाला गया था। कुछ कार्यक्रमों पर अधिक विस्तार से प्रकाश डाला गया है, पर बेकारी और मूल्यनीति आदि जैसे मामलों के बारे में, जिन्हें योजना का अंतिम रूप प्रकाश में आने तक के लिए विलम्बित कर दिया गया है, योजनाकारों ने कोई स्पष्ट संकेत नहीं दिया है। इसके उद्देश्य, प्राथमिकताएँ और व्यूहरचना द्वितीय योजना से कोई भिन्न नहीं हैं, सिवाय इसके कि खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता और कृषि-उत्पादनों में वृद्धि की बात इस सूची में जोड़ दी गयी है। यदि कोई ऐसी बात है जिसे योजनाकारों ने द्वितीय योजनावधि की कठिनाइयों से सीखा है, तो वह यह है कि उन्होंने देश के आर्थिक विकास में कृषि के महत्त्व को कुछ अधिक पैमाने पर अनुभव किया है। फिर भी, हमें बाद में दिखाई देगा और यह खेदजनक है कि योजना के अन्तर्गत कार्यक्रमों में इस दिशा में उद्देश्यों और प्राथमिकताओं की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

योजना में जिन भौतिक कार्यक्रमों का समावेश है, उनकी अनुमानित लागत सार्वजनिक क्षेत्र में ८० अरब रुपये और निजी क्षेत्र में ४१ अरब रुपये है। फिर भी, वर्तमान में वित्तीय साधन सार्वजनिक क्षेत्र में ७५ अरब रुपये अनुमानित है। इस प्रकार योजना के भौतिक और आर्थिक पहलुओं के बीच ५ अरब रुपये का अंतर है, और यदि यह मान्य किया जाय कि अनुमान कम आँके गये हैं, जैसा कि अधिकांश योजनाओं में होता आया है, तो यह अंतर और अधिक हो सकता है। संभव है, आम चुनावों के ठीक पहले राजनीतिक उपयोगिता की दृष्टि से ऐसी अनेक योजनाओं को सम्मिलित करना आवश्यक समझा गया हो, जिन्हें अंततः त्याग दिया जा सकता है। फिर भी, इससे मिथ्या अपेक्षाएँ पैदा होती हैं, जिनकी पूर्ति न होने से जनता में निराशा की भावना पैदा होगी।

७५ लाख रुपये के इस आँकड़े में व्यय का केवल वह भाग सम्मिलित है जिसकी पूर्ति केन्द्र सरकार और राज्यों द्वारा की जाने का प्रस्ताव है। इसके अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं, जैसे नगरपालिकाओं, निगमों, ग्राम-पंचायतों और जिला-परिषदों

द्वारा भी, जिनका निर्माण हाल ही में सत्ता के विकेन्द्रीकरण के नाम पर किया गया है, उनकी अपनी स्थानीय योजनाओं के वित्त-पोषण के लिए या अनुदानों के समकक्ष-पूरक के रूप में साधन जुटाये जाने की आशा है। इसमें विकास-सेवाओं और द्वितीय योजना के अंत तक स्थापित संस्थाओं पर होनेवाले व्यय को भी जोड़ना होगा, जिसकी मात्रा पाँच वर्ष की अवधि में लगभग ३० अरब रुपये होने का अनुमान है। इस प्रकार जनता को सार्वजनिक क्षेत्र की परियोजनाओं के लिए १ खरब १० अरब रुपये की अतिरिक्त धनराशि की पूर्ति करनी होगी। साथ ही, सरकार के वर्तमान व्यय की तो पूर्ति करनी ही होगी, जो स्वयं भी अति तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है। सरकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के बाद जनता को योजना के निजी क्षेत्रवाले भाग की, जिसकी मात्रा ४१ अरब रुपये आँकी गयी है, पूर्ति के लिए भी विभिन्न साधनों का सहारा लेना होगा। २२ अरब रुपये के विदेशी-पूँजी-आयात-अनुमान को घटा देने के बाद योजना की लागत के मद में जनता को खराखरा १ खरब २६ अरब रुपये का बोझ वहन करना पड़ेगा।

पहली और दूसरी योजनाओं में क्रमशः ३७ अरब ६० करोड़ और ७७ अरब रु. का खर्च हुआ। इस व्यय में से दस वर्ष की अवधि में निजी क्षेत्र ने ४६ अरब रुपये का योगदान किया। दो योजनाओं की अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र ने ६५ अरब ५० करोड़ रु. व्यय किया। दस वर्ष में ६५.५० अरब रुपये के व्यय की तुलना में पाँच वर्ष में १ खरब २० अरब रुपये का व्यय एक बड़ी छलांग है, और यदि प्रतिरक्षा के भारी व्यय एवं राष्ट्र के अन्य वायदों को देखते हुए विचारशील लोग इन बोझों को वहन करने की देश की क्षमता के बारे में स्वाभाविक सन्देह व्यक्त करते हैं, या आर्थिक स्थिरता के गंभीर रूप से अस्त-व्यस्त हो जाने की शंका करते हैं, तो हमें उन्हें अमहत्त्वाकांक्षी आदि बताकर उनकी उपेक्षा करने के बदले उनकी बात सुननी चाहिए।

योजनाकारों द्वारा केवल एक ही तर्क दिया जा रहा है कि जनता की विशाल आवश्यकताओं की तुलना में योजना बहुत छोटी है। किन्तु प्राथमिकताओं का निर्धारण करते समय या क्षेत्रीय योजनाओं को प्रस्तावित करते समय वे इस तर्क को भूल जाते हैं। उपभोक्ता-उद्योगों की पूर्णतः उपेक्षा कर आधारभूत और भारी उद्योगों पर बल देते हुए, देश के उपभोक्ताओं को उनकी उचित आवश्यकताओं से वंचित कर निर्यात बढ़ाने का तर्क देते हुए और उपभोग को नियंत्रित रखने के लिए नये कर लगाते हुए

योजनाकार जनता की विशाल आवश्यकताओं के बदले किसी अन्य बात का ही ध्यान रखते हैं। विकास की दीर्घकालिक आवश्यकताओं और बेहतर जीवनस्तर के लिए जनाकांक्षा की पूर्ति की तात्कालिक आवश्यकताओं में सन्तुलन रखना होगा। हमने योजना-निर्माण की जिस पद्धति को अपनाया है, और जो रूसी आदर्श पर आधारित है, वह यह सन्तुलन बनाये रखने में विफल हो गयी है। तृतीय योजना हमारी अर्थव्यवस्था पर पड़ रहे दबाव और तनाव को, जिन्हें हम पिछले सारे वर्षों में अनुभव करते आ रहे हैं, और घनीभूत करेगी।

(२१ अगस्त, १९६१)

खाद्यान्नों में राज्य-व्यापार

१७ अप्रैल को हुई राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) की पिछली बैठक में तृतीय योजना-अवधि में मूल्यों को स्थिर रखने के लिए अपनाये जाने वाले उपायों के बारे में कोई निर्णय नहीं किया जा सका। योजना आयोग ने अपने पहले रुख एवं सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए राज्य-व्यापार का खाद्यान्न-व्यापार तक विस्तार करने का सुझाव दे दिया है, जिसका अंतिम परिणाम नियंत्रण, राशनिंग और अन्न वसूली होगा। केन्द्रीय खाद्यमंत्री श्री स. का. पाटिल, जो पदभार ग्रहण करने के बाद से ही खाद्यान्न में राज्य-व्यापार के विरोधी रहे हैं, योजनाकारों के साथ सहमत नहीं हुए। मतभेद इतना तीव्र था कि गतिरोध पैदा हो गया और प्रधानमंत्री ने इस प्रश्न पर विचार करने और उसे हल करने के लिए एक छोटी उपसमिति गठित करने का सुझाव दिया।

दो वर्ष से अधिक हो गये जब राष्ट्रीय विकास परिषद् ने खाद्यान्न-व्यापार को हाथ में लेने का अचानक निर्णय किया। यह निर्णय शीघ्रता में और समस्या के सभी पहलुओं पर सावधानीपूर्वक विचार किये बिना लिया गया। इसका प्रमाण यह तथ्य है कि जिन राज्यों ने इस निर्णय को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया, उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, और यह तथ्य भी कि तब से धीरे-धीरे पग पीछे हटाये जा रहे हैं। अब यह भी गुप्त नहीं रह गया है कि वर्तमान खाद्यमंत्री की भाँति ही उनके पूर्ववर्ती खाद्यमंत्री भी राष्ट्रीय विकास परिषद् और योजना आयोग के साथ इस प्रश्न पर सहमत नहीं रहे। इतने महत्त्वपूर्ण विषय में ढुलमुल नीति ने देश की अर्थव्यवस्था को वर्णनातीत हानि पहुँचायी है। वस्तुस्थिति यह है कि न तो सरकार ने उचित मूल्य पर लोगों का पेट भरने की जिम्मेदारी ग्रहण की है और न उसने जनता को ही बदलती आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप अपने बाधानिवारक रीति से किसी न किसी प्रकार यथोपयुक्त बन जाते हैं, और कुछ प्रारम्भिक कठिनाइयों के बाद जनता का जीवन प्रायः सामान्य रूप से चलने लगता है। नियंत्रित अर्थव्यवस्था में सरकार अपने आर्थिक उद्देश्यों के अनुसार मूल्य-रेखा को स्थिर रखने के लिए कदम उठाती है। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में हमें दोनों की हानियाँ मिल रही हैं, और लाभ किसी का भी नहीं मिल रहा है।

शनिवार, ६ अप्रैल को देश के खाद्यान्न-व्यापारियों का एक सम्मेलन हुआ, जिसका उद्घाटन श्री सी. राजगोपालाचारी ने किया। मुक्त अर्थव्यवस्था के कट्टर समर्थक होने के कारण उन्होंने तो खाद्यान्न-व्यापार के एकाधिकार के लिए सरकार द्वारा उठाये गये पग का विरोध करने में व्यापारियों के सुर में सुर मिलाया ही, स्वयं जयप्रकाश नारायण ने भी, जिन्हें एक समाजवादी के नाते सरकार का समर्थन करना चाहिए था, यह विचार व्यक्त किया कि खाद्यान्न-व्यापार के क्षेत्र में समाजवादी सिद्धान्तों का विस्तार वांछनीय नहीं है। उन्होंने कहा कि "व्यापारी पीढ़ी-दर-पीढ़ी से इस व्यापार में लगे हैं, और वे इस क्षेत्र के विशेषज्ञ हैं। सरकार इसे उनके समान कुशलता तथा दक्षता के साथ नहीं कर सकती, और इस मामले में किसी प्रकार के मतभेद या सैद्धान्तिक विवाद की गुंजाइश नहीं है।"

हमें सर्वोदय नेता के इस मत से पूर्णतः सहमत होना ही पड़ेगा कि जनता को खिलाने के इस मूलभूत प्रश्न में सैद्धान्तिक मतभेद को नहीं घसीटना चाहिए। दुर्भाग्य से अधिकांश लोगों ने, चाहे वे सरकार के अंदर के हों या बाहर के, इस पर निष्पक्ष भाव से और सूक्ष्म रूप से विचार नहीं किया है। इससे समाजवाद के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी यदि सरकार पूर्ण खाद्यान्न-व्यापार को अपने हाथ में लेने के बाद भी जनता की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने में विफल रहे। साथ ही, हम आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों को ऊँचे चढ़ते जाने की अनुमति नहीं दे सकते। ऊँचे मूल्य के फलस्वरूप ऊँचे वेतन की माँग होती है, और इस प्रकार सर्वज्ञात मूल्य-वेतन-चक्र बढ़ता ही रहता है। यदि मूल्य-रेखा को स्थिर नहीं रखा जा सकता तो हमारी सारी आर्थिक योजनाएँ असफल हो जायेंगी।

योजनाकार मूल्यों के स्थिरीकरण के नाम पर नियंत्रण की नीति के पक्षपाती हैं। किन्तु वास्तविक उद्देश्य योजना के लिए राजस्व प्राप्त करने के लिए राज्य-व्यापार से नफा कमाना प्रतीत होता है। जैसा कि अखिल भारतीय खाद्यान्न-व्यापारी संघ (All India Foodgrains-dealers Association) के अध्यक्ष श्री एम. एच. हाशिम प्रेमजी ने बताया है, सरकार खाद्यान्न-व्यापार से १७० करोड़ रुपये से २७० करोड़ रुपये तक का नफा कमाना चाहती है। यदि उसकी यही नीयत है तो मूल्यों को काबू में रखने का उद्देश्य विफल हो जायेगा। खाद्य के बारे में सांविधानिक स्थिति ने भी मामले को उलझा दिया है। राज्य-सरकारें और केन्द्र-सरकार दोनों कुछ हद तक ही सामने आ रही हैं। इनमें से कोई भी पूरा उत्तरदायित्व लेने को तैयार नहीं।

फिलहाल, सरकारी नीति ने केवल गहरी अन्तरराज्यीय ईर्ष्या पैदा की है। एक राज्य दूसरे राज्य के दुःख में हाथ बँटाने को तैयार नहीं है। खाद्यान्न की बचतवाला राज्य उसे एक लाभदायक व्यापार समझता है और वह भावों को नीचे गिराने के लिए तैयार नहीं है। बताया जाता है कि मध्य प्रदेश सरकार ने तेरह-चौदह रु. प्रति मन की दर से गेहूँ खरीदा था किन्तु उसे केन्द्र सरकार को १६ रु. प्रति मन के भाव से दिया, और केन्द्र सरकार ने उसे फिर से राज्य सरकार को २२ रु. प्रति मन के भाव से बेचा। उपभोक्ता को यह २४ रु. प्रति मन के भाव से उपलब्ध हुआ। इस प्रकार 'राज्य-व्यापार ने मूल्यवृद्धि में ही योगदान किया है। अलग-अलग राज्यों को इन कार्यों से विरत नहीं किया जा सकता। एक ही मार्ग है कि एक केन्द्रीय निगम (Central Corporation) या ऐसी ही कोई सांविधानिक संस्था गठित की जाय, जो खाद्यान्नों की खरीद और बिक्री की पूरी जिम्मेदारी स्वयं ले ले। बीच में राज्यों को नहीं आना चाहिए। केवल इसी प्रकार पूरे देश के मूल्यों में एकरूपता आ सकेगी।

यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि सरकार को पूरे व्यापार को हाथ में ले लेने के बदले एक बड़े व्यापारी के रूप में आंशिक रूप से इस क्षेत्र में उतरना चाहिए। उसे या तो बचतवाले देशों से खाद्यान्न का आयात करके या देश के अन्दर के ही बचतवाले क्षेत्रों से खरीद कर, या भावों में गिरावट के समय, अन्तराल भण्डार (Buffer Stock) बनाना चाहिए और तब भाववृद्धि के समय या अभावग्रस्त क्षेत्रों में इसे एक बिकवाल के रूप में बाजार में प्रविष्ट करना चाहिए। किसी अन्य व्यवस्था का एक ही परिणाम होगा—कालाबाजार या नौकरशाही अक्षमता।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जब तक देश में खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि नहीं होती, तब तक वितरण-पद्धति में कोई परिवर्तन या नया उपाय कारगर नहीं हो सकेगा। यह खेदजनक है कि खाद्य और कृषि मन्त्रालयों ने हर स्थान पर और हर समय खाद्यान्न के उत्पादन की अपेक्षा वितरण की ओर अधिक ध्यान दिया है। बाहर से अन्न मँगाना भी लम्बे समय तक चलता नहीं रह सकता। श्री स. का. पाटिल का ७ अरब रुपये का १ करोड़ २० लाख टन खाद्यान्न का आयात करने का प्रस्ताव दीर्घकाल तक भावों को कम रख सकने में तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक हम उतनी ही राशि—वर्तमान में उस हेतु में जितनी राशि रखी जाने का अनुमान दिखाया गया है उसके अलावा—देश में खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए खर्च

करने को तैयार नहीं होते।

इन परिस्थितियों में सरकार—भले ही वह निर्णय कर ले—संपूर्ण खाद्यान्न व्यापार को हाथ में नहीं ले सकेगी। केवल बीच का मार्ग ही संभव है। वह केवल अपनी कुकल्पित घोषणाओं से व्यापारी समुदाय को सशंकित बना सकती है। वस्तुतः केन्द्रीय खाद्यमंत्री के दृष्टिकोण और अधिकांश सरकारों के व्यवहार में कोई अंतर नहीं है। अच्छा यह होगा कि सैद्धान्तिक वाद-विवाद के कारण इस महत्त्वपूर्ण विषय में अनिश्चय की स्थिति का निर्माण न होने पाये।

(२५ अप्रैल, १९६०)

पी.एल. ४८० समझौता

ऐसे समय में जबकि खाद्यान्न का अभाव जनता और सरकार दोनों के लिए सिरदर्द बना हुआ है, अमरीकी सार्वजनिक कानून ४८० (P.L. 480) के अन्तर्गत ६ अरब ७ करोड़ रुपये के गेहूँ-ऋण के लिए हुए समझौते पर देश की सामान्य प्रतिक्रिया 'दाता के प्रति कृतज्ञता' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होगी। श्री स.का. पाटिल यदि इस बात के लिए गर्व करें कि उन्होंने सामयिक सहायता प्राप्त करने में—और वह भी एक अभूतपूर्व पैमाने पर—सफलता प्राप्त की है, तो उनके लिए उचित ही है।

संयुक्त राज्य अमरीका इस समझौता को असाधारण महत्त्व दे रहा है, यह इस बात से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति आइजनहावर ने अमरीकी सरकार की ओर से समझौते पर परम्परा के विपरीत स्वयं हस्ताक्षर किया, जब कि भारत सरकार की ओर से न तो राष्ट्रपति उपस्थित थे और न प्रधानमंत्री, बल्कि केवल खाद्य और कृषिमंत्री श्री स. का. पाटिल उपस्थित थे। जब लद्दाख और उपूसी (NEFA) पर चीनी आक्रमण के कारण परिवर्तित परिस्थितियों में जनता धीरे-धीरे अमरीका के प्रति विरोध का भाव छोड़ती जा रही है, अमरीकी सरकार का यह कार्य भारत में मित्रों की संख्या बढ़ाने की दृष्टि से एक महान् कूटनीतिक कदम माना जा सकता है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं था, यदि भारत-स्थित अमरीकी राजदूत श्री एल्सवर्थ बंकर ने वाशिंगटन-स्थित भारतीय राजदूत श्री चागला के इस मंतव्य को बार-बार दुहराया कि "भारत-अमरीका-सम्बन्ध एक इतने ऊँचे स्तर पर पहुँच गये हैं, जितने कभी नहीं थे।" अमरीकी राजदूत ने इसे छिपाकर नहीं रखा है कि उनकी सरकार का निर्णय राजनीतिक दृष्टिकोण से भी प्रेरित है। उनका मत है कि "अमरीका से सार्वजनिक विधि ४८० के अंतर्गत खाद्यान्न की आपूर्ति से भारत को अपनी आंतरिक अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने, अपने राजनीतिक जीवन को स्थिर करने तथा तीव्र प्रगति को बढ़ावा देने में सहायता पहुँचेगी।"

फिर भी यह समझना गलत होगा कि यह समझौता केवल एक दया का या कूटनीति का कार्य है और इससे अमरीका को आर्थिक लाभ नहीं है। तथ्य तो यह है कि अमरीकी कृषि की आर्थिक स्थिरता और कृषि-वस्तुओं में अन्तरराष्ट्रीय व्यापार

के विस्तार के उद्देश्य से ही अमरीकी कांग्रेस द्वारा १९५४ में सार्वजनिक विधि ४८० (P.L. 480) को पारित किया गया था। ३१ दिसंबर १९५६ तक ३८ देशों को निर्यात बाजार के भाव से ४ अरब १५ करोड़ ६० लाख डालर (१९ अरब ७८ करोड़ रु.) की कृषि-वस्तुएँ वह बेच चुका है। इसलिए यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि इस समझौते से दोनों देशों के आर्थिक हितों का पोषण होता है और इसलिए निहित पक्ष इसका जो भी राजनीतिक महत्त्व बनाने का प्रयास करें, हमें इस पर यथार्थवादी एवं सोद्देश्य दृष्टि से विचार करना चाहिए। पहला समझौता १९ अगस्त १९५६ को हुआ और इस पाँचवे समझौते पर ४ मई १९६० को हस्ताक्षर हुए। जबकि प्रथम चार समझौते कुल ४ अरब ६० करोड़ रुपये की कृषि-वस्तुओं की पूर्ति के लिए थे, यह पाँचवाँ समझौता ६ अरब ७ करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों के लिए है। यह १ करोड़ ६० लाख दाशमिक टन (Metric Ton) गेहूँ और १० लाख दाशमिक टन चावल के लिए है। इस समझौते की शर्तों के अन्तर्गत क्रय किये गये गेहूँ और चावल की खरीद तथा समुद्री परिवहन में अमरीकी सरकार वित्तपोषण करेगी। स्वीकार्य राशि का एक चौथाई इस वर्ष अर्थात् ३० सितम्बर के बाद, जब शिपमेण्ट आरम्भ होगा, उपलब्ध होगा। शेष मात्रा दोनों सरकारों के बीच तय पायी दरों और शिपमेण्ट के ढर्रे के अनुसार १ जनवरी १९६१ के बाद उपलब्ध होगी। अमरीकी सरकार इन वस्तुओं के विक्रीधन के बारे में भी भारत सरकार को ५ अरब १२ करोड़ रुपये देने को सहमत हो गयी है। इसमें से आधी राशि अनुदान के रूप में होगी और आधी ऋण के रूप में, जिस पर ४ प्रतिशत ब्याज लगेगा। बाकी ९५ करोड़ रुपये अमरीकी दूतावास द्वारा उसके नियमित व्यय के वित्तप्रोपण के रूप में भारत में खर्च किये जायेंगे।

वर्तमान समझौता केवल वर्तमान खपत की पूर्ति के लिए नहीं किया गया है, बल्कि ४० लाख दाशमिक टन गेहूँ और १० लाख दाशमिक टन चावल का आरक्षित भण्डार बनाने की दृष्टि से भी किया गया है। ऐसी आशा की गयी है कि इस अन्तराल भण्डार से सरकार को मूल्यों को नियंत्रित करने में सहायता मिलेगी। कृषि और खाद्यमंत्री का पद ग्रहण करने के बाद से ही श्री स.का. पाटिल यह अन्तराल या आरक्षित भण्डार बनाने के प्रयास करते रहे हैं। इस समझौते से उन्हें अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने में सहायता मिलेगी। ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि यदि खाद्यान्नों के भाव नीचे लावे जा सकें तो मुद्रास्फीति रोकी जा सकेगी और देश की

अर्थव्यवस्था समतल धरातल पर आ जायेगी।

यद्यपि हम इस समझौते के अन्तर्गत खाद्यान्न के भारी आयात से भारतीय अर्थव्यवस्था के लाभ को कम आँकना नहीं चाहते, तथापि हम चाहते हैं कि सरकार सतर्क नीति का अनुसरण करे। इसमें सन्देह नहीं कि खाद्य की समस्या एक महत्त्वपूर्ण समस्या है और हर औसत भारतीय के पारिवारिक बजट में वह एक मुख्य वस्तु है। किन्तु हमारे देश में ७० प्रतिशत से अधिक जनता क्रयशक्ति प्राप्त करने के मुख्य साधन के रूप में खाद्यान्न एवं अन्य कृषि-वस्तुओं पर निर्भर करती है। यदि सरकार की भण्डार जमा करने की नीति से कृषि-वस्तुओं के मूल्य में तीव्र गिरावट हो जाय तो देश की दशा कुछ अच्छी नहीं होगी। क्या इसका अर्थ भारतीय किसान की कीमत पर अमरीकी किसान का सम्भरण करना नहीं होगा? इस आशंका का और भी कारण है, क्योंकि इस समझौते के अन्तर्गत गेहूँ और चावल के आयात के साथ भारत विश्व बाजार से १ करोड़ ४६ लाख ८० हजार बुशल गेहूँ खरीदने के लिए भी वचन दे चुका है। यह शर्त कनाडा और आस्ट्रेलिया को सन्तुष्ट करने के लिए हम पर लादी गयी है, क्योंकि उन देशों को भय था कि भारत-अमरीका समझौते के परिणामस्वरूप उनका गेहूँ-बाजार काफी कम हो जायेगा। किन्तु यह शर्त इस अर्थ में पूर्णतः अन्यायपूर्ण है कि भारत पर अपनी सामान्य आवश्यकताओं से काफी अधिक खाद्यान्न की विदेशों से खरीद करने के लिए दबाव डाला गया है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय कृषि-मूल्यों में गिरावट होगी।

यह कहना भी पूर्ण सही नहीं है कि खाद्यान्नों के भावों में गिरावट होने से मूल्य-स्तर में व्यापक गिरावट होगी। यद्यपि खाद्याभाव से मूल्य-समस्या जटिल बनी है, तथापि मूल्यों में वृद्धि का कारण सरकार की वित्तीय, मुद्रा-संबंधी एवं औद्योगिक नीतियाँ हैं। यह भी संभव है कि कृषि-वस्तुओं के मूल्यों में गिरावट हो, जब कि औद्योगिक सामान के भावों में वृद्धि होती रहे।

अमरीकी सार्वजनिक विधि कोष की राशि का इस देश में व्यय किया जाना भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। राजनीतिक जटिलताओं के अतिरिक्त इसका आर्थिक मूल्य भी संदिग्ध है। श्री शेणाय एवं अन्य अर्थशास्त्रियों के बीच यह विवाद छिड़ भी चुका है कि इस प्रकार के कोषों के उपयोग से मुद्रास्फीति को बल मिलता है या नहीं। एक बात निश्चित है कि ऐसे कोष से एक विदेशी अनुग्रह दर्शाने के लिए भारी साधन या शक्ति मिल जाती है। कूले-संशोधन में कहा गया है कि ऐसे कोष का २५ प्रतिशत

भाग निजी क्षेत्र में 'अमरीकी फर्मों या सम्बन्धित देश में कार्यरत उनकी सहकम्पनियों को या अमरीकी फर्म के साथ सम्बद्ध देशी फर्मों को' या ऐसी देशी फर्मों को जो अमरीकी कृषि-उत्पादनों की बिक्री में सहायक हों, ऋण के रूप में दिया जाना चाहिए। इस प्रकार इस समझौते से न केवल अमरीकी कृषि-उत्पादनों के लिए एक बाजार मिल गया है, बल्कि इस देश में आने के इच्छुक अमरीकी उद्योगपतियों के लिए भी एक सुविधा की स्थिति पक्की हो जाती है। इन प्रस्तावों के दीर्घकालिक प्रभावों की ओर से आँखें मूँद लेना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होगा।

जबकि इन आयातों से हमें अपनी वर्तमान कठिनाइयों से पार पाने में सहायता मिल सकती है, इस समस्या का वास्तविक समाधान इस देश में कृषि-उत्पादन में वृद्धि करने में निहित है। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि हमने इस दिशा में सन्तोषजनक कार्य नहीं किया है। वर्तमान समझौता इस मोर्चे पर सरकार की विफलता का एक जीता-जागता प्रमाण है। समय की गति के साथ हम विदेशी साधनों पर अधिकाधिक निर्भर होते गये हैं। हमें भय है कि वर्तमान में पर्याप्त खाद्यान्न मिल जाने के कारण सरकार देश में उत्पादन बढ़ाने के अपने प्रयासों में शिथिल हो जा सकती है। अमरीकी राजदूत का कहना है कि अमरीका जनतांत्रिक विश्व की संघर्षरत जनता को यह अनुभव करा देने के लिए कि "स्वतन्त्रता और भोजन दोनों साथ चल सकते हैं," इस नीति का अनुसरण कर रहा है। किन्तु हम जो चाहते हैं वह है अपनी स्वतंत्रता और अपना भोजन। यह तभी संभव है जब हम " विदेशी भोजन से मुक्ति" के अपने पुराने उद्घोष को फिर से गुंजित करें। विदेशी स्रोतों पर निर्भरता हमको दुर्बल और जड़ीभूत किंवा विपर्यस्त बना देगी। इसलिए हम श्री पाटिल का उनके अमरीका से लौटने पर नहीं, बल्कि तब अभिनंदन करेंगे जब वे देश में खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने में सफल हो जायेंगे और विश्व को यह दिखा देंगे कि भिक्षापात्र लेकर विश्व में घूमने वाले वे स्वतंत्र भारत के अंतिम खाद्यमंत्री हैं।

(१६ मई, १९६०)

सार्वजनिक बनाम निजी क्षेत्र

ट्रक का निर्माण अपने आप में कोई महान् घटना नही है, किन्तु जब प्रधानमंत्री ऐसे समारोह का उद्घाटन करते हैं तब समाचारपत्रों और जनता के लिए वह एक महत्त्वपूर्ण घटना बन जाती है। इसलिए समाचारपत्रों ने जबलपुर के समारोह का विवरण निष्ठा के साथ छापकर अपने कर्तव्य का पालन कर दिया है। इस समारोह के वृत्तान्त को प्रथम पृष्ठ का प्रथम श्रेणी का समाचार माना गया। किन्तु जनता को 'शक्तिमान' की 'शक्ति' दिखाई नहीं पड़ती। सर्वसाधारण मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि प्रधानमंत्री को इतने सारे कष्ट उठाकर केवल इसलिए जबलपुर क्यों जाना चाहिए कि वे बटन दबा दें, जिससे तीन टन का एक ट्रक पुर्जा-जोड़ाई स्थल (असेम्बली लाइन) से थोड़ा दूर लुढ़क जाय। और केवल प्रधानमंत्री ही नहीं बल्कि अन्य बहुत से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों (V.I.Ps) ने भी इस समारोह में उपस्थित रहने के लिए समय निकाल लिया। प्रतिरक्षामन्त्री श्री वी.के. कृष्णमेनन, इस्पात, खान और ईंधनमंत्री सरदार स्वर्णसिंह और प्रान्त के मुख्यमन्त्री श्री कैलासनाथ काटजू भी उपस्थित थे। स्थल सेना के प्रधान, वायुसेना के प्रधान, नौसेना के उपप्रधान तथा दक्षिणी कमान के जनरल आफिसर कमाण्डिंग-इन-चीफ सशस्त्र सेनाओं के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित रहे। जहाँ सरकार के इतने बड़े-बड़े अधिकारी एक साथ उपस्थित हों, तो यह कितनी अशालीनता होती यदि अधिकारियों का समूह उनकी 'खिदमत में हाजिर' न रहे! यह अनुसन्धान करना काफी रोचक होगा कि इस समारोह में एकत्र 'अति महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों' और 'अनति-महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों' द्वारा कितनी राशि यात्रा-भत्ते के रूप में वसूल की गयी। संभवतः यह राशि उस भाग्यशाली ट्रक की कीमत से भी बहुत अधिक ठहरेगी।

ये सारी बातें शायद समाचारपत्रों के लिए बड़े समाचार हों, परन्तु जनता को आश्चर्य है कि क्या उक्त अवसर पर इतनी धूमधाम और व्यय आवश्यक था? क्या देश में पहली बार ट्रक का निर्माण किया गया है? क्या इस ट्रक में कोई विशेषता है? जहाँ तक ज्ञात है, वर्तमान मामले में 'निर्माण' शब्द का प्रयोग ही गलत है। यहाँ तो आयात किये गये निचले लौह ढाँचे (Chassis) और इंजिन पर केवल लकड़ी का ऊपरी ढाँचा तैयार किया जाता है। और यदि ऐसी बात है तो प्रधानमंत्री को इस

प्रकार चुनौती की भाषा में नहीं बोलना चाहिए था। निश्चय ही यह निजी और सार्वजनिक क्षेत्र की उपलब्धियों की तुलना करने का अवसर नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिरक्षामंत्री संसद् में की गयी अपनी आलोचना का उत्तर देने के लिए इस अवसर का लाभ उठाना चाहते थे। प्रधानमंत्री ने अपने मित्र को अनुगृहीत करना उचित समझा। किन्तु जब सब प्रकार से मितव्ययिता आज की आवश्यकता है, तब हम इस प्रकार के अपव्यय को उचित नहीं ठहरा सकते।

जहाँ तक सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र के विवाद का प्रश्न है, प्रधानमंत्री ने कहा कि मैं दोनों को फलते-फूलते देखना चाहता हूँ, और दोनों के बीच कुछ हद तक प्रतिस्पर्द्धा होना अच्छा है,जिससे दोनों को लाभ होगा।

पण्डित नेहरू का कथन महत्त्वपूर्ण है। परन्तु उन्होंने जो कुछ कहा, क्या वे उसमें विश्वास रखते हैं? अभी तक तो सार्वजनिक क्षेत्र ने प्रतिस्पर्द्धा की अनुमति नहीं दी है। जहाँ कहीं सरकार प्रवेश करती है, वहाँ एकाधिकार प्राप्त कर लेती है, और ऐसा उसकी कार्यक्षमता या आर्थिक नियमों के परिणामस्वरूप नहीं होता बल्कि वह ऐसा कानूनी व्यवस्था के द्वारा कर लेती है। यह एकाधिकार और तज्जन्य व्यक्तिगत उद्योगों का स्थानच्युत हो जाना ही वह कारण है कि जनता सार्वजनिक क्षेत्र को नापसन्द करती है। एकाधिकार से अक्षमता, अभाव, भ्रष्टाचार तथा अन्य दुर्गुण पैदा होते हैं। यदि पण्डित नेहरू 'कुछ हद तक प्रतिस्पर्धा' में विश्वास रखते हैं, तो वे उन कई क्षेत्रों में निजी उद्योगों को कार्य करने दें, जिनको यौद्धिक या उसी प्रकार के कारणों से सरकारी कार्य के लिए आरक्षित रखने की आवश्यकता नहीं है। इससे निश्चय ही दोनों क्षेत्रों को लाभ होगा।

(२६ जून, १९५६)

सहकारिता-कृषि : किंकर्तव्यविमूढ़ता की कहानी

नयी दिल्ली में हुई अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में सहकारिता-कृषि पर कांग्रेस के कार्यक्रम के बारे में कोई नया प्रकाश नहीं डाला गया है। कांग्रेस-अध्यक्षा (श्रीमती गांधी) ने इसे उस समय स्वयं स्वीकार किया जब वे क्रोधित होकर इन शब्दों में उबल पड़ीं, "मैं यह आम बहस-मुबाहसा नहीं चाहती। इससे कोई निष्कर्ष नहीं निकलनेवाला है। आज मुझे कोई भी नयी बात नहीं सुनने को मिली...मुझे आशा है कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ही इसे व्यवहार में लायेगी।" अब 'व्यवहार में लाने' की बात सुनने में अच्छी लगती है, किन्तु जब उसे व्यवहार में लाने की बात आती है तब आपके सामने सिवाय इसके और कोई विकल्प नहीं है कि इस पूरे कार्यक्रम का परित्याग कर दिया जाय। आदर्श के रूप में सहकारिता के बारे में कोई विवाद नहीं है। किन्तु उसे केवल विशेष सीमा में ही अनुभव किया जा सकता है। और कृषि में, जो एक जैविक प्रक्रिया है, सहकारिता की उपयोगिता (आज के प्रयुक्त अर्थ में) अत्यन्त सीमित है। जनता का कौटुम्बिक बंधनों के कारण एकजुट रहना, जिससे श्रेष्ठ आर्थिक और भौतिक सम्बन्ध बनते हैं, अलग बात है।

कुटुम्ब प्रत्येक व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार कार्य और प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति के आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है। परम्परा के कारण सदस्यों के मन में यह भावना संस्कार के रूप में जम गयी है। परिवार का 'कर्ता-धर्ता' सदस्यों के वोट पर नहीं निर्भर होता। उसे यह सिखाने के लिए कि वह कैसे सर्वश्रेष्ठ ढंग से अपने उत्तरदायित्वों को निभा सकता है, कोई प्रशिक्षण-वर्ग नहीं आयोजित किया जाता। वह अपने पूर्वजों के मार्ग का अनुसरण करते हुए अन्तःस्फूर्ति से इस दायित्व का निर्वाह करता है। किन्तु सहकारिता में हमें इस मार्मिक समस्या का सामना करना पड़ता है कि उत्पादन का वितरण कैसे किया जाय। जब हर प्रकार की भूमिवाले लोग, बिना भूमिवाले लोग और विभिन्न प्रकार के हकवाले लोग एकत्र हों तो वस्तुतः उत्पादन का न्याय्य ढंग से वितरण करना असम्भव है। उसे समान रूप से वितरित किया जा सकता है, पर वह न्याय्य नहीं होगा। डा. सुशीला नय्यर ने यह प्रश्न उपस्थित किया और उन्होंने यह माँग की कि

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करे। यह 'व्यवहार में लाना' कहा जायेगा। क्या कांग्रेस-अध्यक्षा यह कार्य हाथ में लेंगी?

नेतृत्व का प्रश्न भी है। नेताओं को शायद ही किसी प्रशिक्षण-वर्ग में प्रशिक्षित किया जाता है। किन्तु वहाँ भी लोग आगे नहीं आ रहे हैं। अ.भा. कांग्रेस कमेटी के सदस्य हजारों की बात कर सकते हैं, पर प्रस्तावित प्रशिक्षण-शिविर के लिए कार्यालय में केवल छः या सात नाम प्राप्त हुए हैं। और वह भी तब, जब गैरकांग्रेसी लोगों को भी उसमें शामिल होने की अनुमति दी गयी। निश्चय ही यह कार्यक्रम स्वैच्छिक आधार पर या सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा नहीं, बल्कि सरकारी अधिकारियों द्वारा क्रियान्वित किया जायेगा। कांग्रेस-अध्यक्षा ने इस बात को समझ लिया, जब उन्होंने कहा कि इस दिशा में मुख्य जिम्मेदारी सरकार पर है।

श्री सुब्रह्मण्यम ने कहा कि किसानों के बीच सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना का विकास करना होगा, और इसके लिए नेतृत्व की आवश्यकता है। कुछ सीमा तक यह नेतृत्व भूतपूर्व जमींदारों तथा भूमिवाले वर्गों से उपलब्ध हो सकता है। किन्तु गाँवों में वातावरण इतना दूषित हो गया है कि वे भी जनता में उत्साह फूँकने में सफल नहीं हो सकेंगे। श्री विमलचन्द्र सिन्हा ने उनके सहकारिताओं में शामिल होने में कुछ खतरा अनुभव किया। उन्होंने कहा कि पूरे क्षेत्र में वे दबंग हो सकते हैं। कांग्रेस नया नेतृत्व चाहती है। वह कहाँ से आयेगा? वह गाँवों से नहीं प्राप्त होगा। उसे ऊपर से लादा जायेगा।

केरल के श्री पी. गोविन्द मेनन ने यह शिकायत की कि वहाँ कम्यूनिस्ट सरकार सहकारी समितियों पर नियंत्रण रख रही है। उन्होंने कहा, "केरल में वस्तुस्थिति यह है कि कांग्रेसियों द्वारा आरम्भ की गयी सहकारी समितियाँ पंजीकृत (Registered) नहीं हैं। जैसे ही कोई कांग्रेसी या गैरकम्यूनिस्ट व्यक्ति सहकारी समितियों के पंजीकरण के लिए आवेदन देता है, सम्बन्धित मंत्री या कम्यूनिस्ट पार्टी का प्रधान उसके लिए किसी अपने आदमी के नाम से आवेदनपत्र दिलवा देता है, और रजिस्ट्रार उसी के आवेदन को स्वीकार कर लेता है। सहकारिता-आंदोलन को कम्यूनिस्टों का एक मंच बनाये रखने के लिए यह एक कम्यूनिस्ट हथकण्डा है। दूसरा हथकण्डा है गैरकम्यूनिस्टों की सहकारी समितियों को अधिकारच्युत (Supersede) कर देना। तीसरा यह कि वहाँ रजिस्ट्रार को अपने द्वारा मनोनीत सदस्यों को सूचीबद्ध कर लेने के लिए सहकारी समितियों की कार्यकारिणी समितियों

को निर्देश देने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस प्रकार कम्यूनिस्ट उनमें प्रवेश पा जाते हैं।" केरल में जो कम्यूनिस्ट कर रहे हैं, वही अन्यत्र कांग्रेस कर रही है। सहकारिताकरण अधिकारीकरण का केवल एक दूसरा नाम है। यह सामूहिकता से भिन्न कैसे है?

यद्यपि प्रधानमंत्री ने एक सामान्य प्रतिनिधि के रूप में भाषण किया, फिर भी उनके दृष्टिकोण का व्यापक प्रचार हुआ। उन्होंने इस विषय पर इतनी बार भाषण किया है और हर बार धर्मप्रचारक की तरह इतने जोश-खरोश से भाषण किया है कि उन्होंने इन सहकारिताओं के रूप के बारे में परस्पर-विरोधी वक्तव्य भी दे डाले हैं। यहाँ तक कि उन्होंने इस भाषण में भी कहा है कि उन्हें सहकारिता-कृषि के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी, एक दूसरे स्थान पर उन्होंने कहा है कि उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं होगी यदि तब तक एक भी सहकारी समिति का गठन न हो, जब तक योग्य नेता प्रशिक्षित नहीं हो पाते। वे स्पष्ट ही यह जानते हैं कि योग्य नेता उपलब्ध नहीं हैं। तब वे इसी क्षण ऐसी सहकारिता-समितियों के गठन पर जोर कैसे दे सकते हैं? उन्होंने सहकारिताओं का परित्याग करने के किसान के अधिकार के बारे में भी उलझनपूर्ण वक्तव्य दिये हैं। एक स्थान पर उन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि सहकारिता-कृषि अपनाने वाले किसानों को उससे अलग होने की अनुमति नहीं दी जा सकती। दूसरे स्थान पर वे कहते हैं कि चूँकि सहकारिता-कृषि बिल्कुल स्वैच्छिक है, अतः कोई ऐसी प्रक्रिया निश्चित की जा सकती है जिसके अन्तर्गत लोगों को "यथासंभव सर्वोत्तम शर्तों पर उसका परित्याग करने" की अनुमति दी जा सके। उन्होंने वैज्ञानिक और यांत्रिक कृषि के बीच भी भेद दर्शाने का प्रयत्न किया है। किन्तु उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि बड़े भूखण्डों पर, चाहे उनकी कृषि-शर्तें जो भी हों, वैज्ञानिक खेती के नाम पर मशीनीकरण की दिशा में बढ़ने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। विज्ञान और यंत्र संयुक्त हैं। यदि हमें यन्त्रीकरण से बचना है, तो सब भूमि को एक साथ कर देने के प्रलोभन को छोड़ देना चाहिए।

पण्डित नेहरू को यह शिकायत है कि सहकारिता-कृषि के विरोधियों ने कोई विकल्प नहीं सुझाया है। कठिनाई यह है कि वे अपनी सुनहली कल्पनाओं से इस प्रकार अभिभूत हैं कि उन्हें कोई विकल्प दिखाई ही नहीं देता। ऐसा केवल इसी मामले में नहीं है। नीति सम्बन्धी अन्य विषयों में भी उन्हें केवल एक ही मार्ग दिखाई

देता है, और वह है केवल उनका अपना मार्ग। किसान के स्वामित्व के आधार पर कृषि की बात भी है। जापान एवं अन्य देशों में इससे सर्वाधिक अच्छा परिणाम निकला है। पोलैण्ड को सहकारिता-कृषि के प्रयोग में असफलता प्राप्त करने के बाद फिर से इसी पद्धति का सहारा लेना पड़ा। यदि वे मनमोदक खानेवालों के मत पर निर्भर न रहकर चित्र के दूसरे पहलू पर ठण्डे मन से विचार करें, तो उन्हें सच्चाई समझ में आ जायेगी। वे तथा कांग्रेस-अध्यक्षा, दोनों ही, विरोध को और संभावित तथा वास्तविक कठिनाइयों को घटाकर बताने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे इस कल्पना से अभिभूत हैं कि हर स्थान पर किसानों ने सहकारिता-कृषि के कार्यक्रम का हृदय से स्वागत किया है। पण्डित नेहरू जोश के साथ बोले हैं, पर उनके निष्कर्ष से सहकारिता-कृषि के पक्ष का समर्थन नहीं होता। डा. मेहताब ने यह मत व्यक्त किया कि कांग्रेस के नेताओं में से 'अनेक अब भी इस कार्यक्रम के बारे में किंकर्तव्यविमूढ़ हैं, जिसे वे जनता से व्यवहार में लाने का अनुरोध कर रहे हैं।' हाँ, यहाँ किंकर्तव्यविमूढ़ता है और वह ऊपर से लेकर नीचे तक विद्यमान है। पहले कांग्रेस के नेताओं को चाहिए कि वे इस योजना के सभी पहलुओं तथा पक्ष-विपक्ष पर सविस्तार विचार करें और तब जनता को उसके बारे में स्पष्ट और असन्दिग्ध शब्दों में बतायें। बहुमुखी वाक्शूरता की अपेक्षा, जो इन दिनों काफी मात्रा में हमें कर्णगोचर हो रही है, उससे अधिक भलाई होगी।

(१८ मई, १९५९)

भारत, पाकिस्तान और अमरीका

कम्यूनिस्ट चीन के आक्रमण के विरुद्ध भारत के प्रति अमरीकी जनता की सहानुभूति है, किन्तु उसके मन में यह सन्देह भी काम कर रहा है कि शायद हम चीन का समुचित रीति से सामना करने के इच्छुक नहीं हैं। हमारी पिछली नीति, जो निश्चित रूप से और निर्लज्ज तरीके से चीनसमर्थक रही, और आक्रामक के प्रति हमारी नरमी का वर्तमान रुख बड़ी सीमा तक इस भावना का कारण है। इसके लिए यह समझ पाना कठिन है कि जिस देश पर हम आक्रामक होने का आरोप लगा रहे हैं, उसके साथ हम कूटनीतिक सम्बन्ध क्यों बनाये रखे हुए हैं? कोलम्बो-प्रस्तावों के प्रति हमारे रुख को वे पसन्द नहीं करते। वस्तुतः हमारी चीन-नीति उनके लिए एक पहेली है: असंगत और विरोधाभास-युक्त है। यह वह नीति है, जो ऐसे राष्ट्र-की नीति नहीं हो सकती जो अपने को आक्रान्त मानता है, जिसे भविष्य में भी खतरा दिखाई देता है और जो स्थिति को बदल देने की इच्छा रखता है। इससे हमारा पक्ष दुर्बल हुआ है।

अमरीकी गुप्तचर विभाग के इस मत ने कि निकट भविष्य में कम्यूनिस्ट चीन का नया आक्रमण होने की संभावना नहीं है, और भारत सरकार की नीति ने भी उस देश में उस उत्साह को ठण्डा कर दिया है जिस उत्साह के साथ वह अक्तूबर-नवम्बर १९६२ में हमारी सहायता के लिए दौड़ पड़ा था। भारत को सैनिक सहायता के प्रश्न को एक तात्कालिक विपत्ति के विरुद्ध अविलम्ब तैयारी की अपेक्षा दीर्घकालिक सामरिक तैयारी की पृष्ठभूमि में लिया जा रहा है। इन परिस्थितियों में वह भारत को शस्त्रास्त्र न देने की पाकिस्तान की माँग को स्वीकार करने में कोई भी हानि नहीं देखता।

पूर्व-पश्चिम के बीच तनाव में कमी और चीन-रूस के बीच फूट के कारण भी इस नीति को बल मिला है। अमरीका में अब यह भावना दृष्टिगोचर हो रही है कि अब दो ध्रुवोंवाला विश्व नहीं रह गया है। क्यूबा में रूस के पीछे हटने के कारण भी अमरीका में आत्मविश्वास जागृत हुआ प्रतीत होता है। अब एक बाजी जीत लेने के बाद वह दूसरी बाजी लगाने का खतरा मोल लेने को तैयार नहीं है। शीतयुद्ध की गरमी से उसकी इच्छा एवं व्यूहरचना की पूर्ति हो जाती है। वर्तमान मनःस्थिति में

अमरीका निश्चय ही भारत के साथ मैत्री करना चाहता है, परन्तु वह यह भी नहीं चाहता कि भारत अमरीकी गुट में शामिल हो जिससे रूस की अस्वस्थता बढ़ जाय। यह विचित्र दिखाई पड़ता है, परन्तु है बिल्कुल सही कि पश्चिम अब भारत की गुटविहीनता की नीति से खिन्न नहीं अनुभव करता। कुछ सीमा तक यह उसके लिए अनुकूल भी है। मैं अमरीका में अनेक लोगों से मिला जिन्होंने अपनी इस भावना को छिपाकर नहीं रखा।

पश्चिमी विश्व कम्यूनिस्ट ब्लाक में फूट बढ़ने से स्वाभाविकतया ही प्रसन्न है। यह सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि अन्ततः यदि कम्यूनिस्ट और गैरकम्यूनिस्ट विश्व के बीच सशस्त्र युद्ध छिड़ा तो एक ही ब्लाक के आंतरिक मतभेद आड़े नहीं आयेंगे। पर अब सशस्त्र युद्ध की संभावना कम हो गयी है और उस संभावना को समुचित नीति-निर्णयों के द्वारा और कम किया जा सकता है। चूँकि कम्यूनिस्ट चीन ने कम्यूनिस्ट विश्व के एकमेव मार्गदर्शक होने के सोवियत दावे को चुनौती दी है, उस पर एक भिन्न दृष्टिकोण से विचार करना होगा। यदि चीन की रूस से ठन जाय, तो उस समय यदि पश्चिमी देश खुले आम चीन की पीठ भले न थपथपा सकें, वे चीन की पीठ में छुरा भोंकनेवाला भी कोई काम नहीं करेंगे। उनमें से कुछ तो कुछ सीमा तक चीन की पीठ भी ठोकेंगे, ताकि वह लड़खड़ा कर फिर से रूस के पैरों पर न गिर पड़े। इसमें इन सब बातों का उत्तर मिल जाता है कि उस समय कुओमिन्तांग को चीन की मुख्य भूमि पर क्यों आक्रमण नहीं करने दिया गया जब वह पश्चिमी सीमा पर उलझा हुआ था, या भारत के विरुद्ध बर्बर आक्रमण के बाद ब्रिटेन ने चीन को विमानों की आपूर्ति करने का क्यों निर्णय किया, और फ्रांस ने अब तक के अपने प्रिय मित्र च्यांग काई शेक के साथ विश्वासघात करके भी कम्यूनिस्ट चीन के साथ क्यों कूटनीतिक संबंध स्थापित किया।

इससे इस बात का भी यथार्थ उत्तर मिल जाता है कि कम्यूनिस्ट चीन के साथ पाकिस्तान की मैत्री को अमरीका क्यों सहन कर रहा है। जहाँ तक अमरीकी जनता का सम्बन्ध है, वह पाकिस्तान की भड़ैती से क्रुद्ध है। पाकिस्तान को केवल कम्यूनिस्ट-विस्तारवाद को रोकने के लिए आनखशिख शस्त्रसज्ज किया गया था। किन्तु ऐसे समय पर, जब एक गैरकम्यूनिस्ट देश भारत कम्यूनिस्ट शक्ति के आक्रमण का शिकार हुआ, तब पाकिस्तान न केवल एक निष्क्रिय दर्शक बना रहा बल्कि उसने भारत से शत्रुता चुकाने के लिए उसे एक स्वर्णावसर समझा। ऐसे लोगों की संख्या

कम नहीं है जिनका कहना था कि पाकिस्तान मूर्ख है, कृतघ्न है और अविश्वसनीय है।

किन्तु अमरीकी प्रशासन का यह मत नहीं है। उसका परराष्ट्र विभाग अब भी पाकिस्तान को एक मित्र राष्ट्र मान रहा है और वह चीन के साथ पाकिस्तान की साँठ-गाँठ या चीन को पाकिस्तानी भू-क्षेत्र दिये जाने पर चिंतित नहीं है।

वाशिंगटन के नीति-निर्माता यह चाहते हैं कि भारत कम्यूनिस्ट चीन के विरुद्ध तो दृढ़ रुख अपनाये, पर साथ ही पाकिस्तान के प्रति नरम रहे। दूसरी ओर, पाकिस्तान के चीन के प्रति नरम रुख रखने और भारत के साथ कठोर रुख रखने पर उसे कोई आपत्ति नहीं है। इसमें स्पष्ट विरोधाभास है, पर यही उसके लिए अनुकूल है।

जहाँ तक चीन का सम्बन्ध है, पश्चिमी शक्तियाँ अब वही भूमिका निभा रही हैं जो पिछले वर्षों में भारत निभाता रहा है। अन्तर इतना ही है कि भारत सरल भाव से, बल्कि निर्बोध भाव से, वैसा करता रहा। भारत की चीन-नीति को पश्चिमी ब्लाक के भागीदारों में से एक देश का आशीर्वाद प्राप्त था। अनेक प्रसंगों में भारत ने ब्रिटेन का अनुकरण किया या उसके साथ लग गया। फिर भी, भारत ने आवश्यकता से अधिक अपनी भूमिका निभायी और इसीलिए उसे कष्ट भी उठाना पड़ा। अब चूँकि भारत और चीन के सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गये हैं, अब पाकिस्तान को उस भूमिका-निर्वाह करने के लिए चुना गया है। पाकिस्तान के साथ पश्चिमी देशों को एक सुविधा यह भी है कि वह सदैव उनसे ही संकेत ग्रहण करेगा, जब कि अनेक अवसरों पर भारत ने स्वतन्त्र मार्ग अपनाया था और कई बार तो उसके कार्यों से पश्चिमी देशों को विरक्ति हुई और परेशानी भी उठानी पड़ी।

अमरीका की जनता और सरकार दोनों भारत-पाक एकता के लिए उत्सुक हैं। किन्तु वे भारत का दृष्टिकोण पसन्द करने की बात तो दूर, उसे समझने में भी विफल हैं। न केवल सर्वसाधारण अमरीकी, बल्कि वहाँ के विश्वविद्यालय-प्राध्यापक जैसे उच्च-शिक्षित व्यक्ति भी भारतीय जीवन के तथ्यों के बारे में सर्वथा अनभिज्ञ हैं। वहाँ यह भावना व्यापक रूप में विद्यमान है कि भारत का विभाजन हिन्दू-मुस्लिम आधार पर हुआ था, और भारत में कोई मुसलमान नहीं रहता। एक विश्वविद्यालय में विदेशी छात्रों के एक डीन के साथ वार्ता करते समय मैंने उनसे पूछा कि विभिन्न देशों से आनेवाले छात्रों से क्या उन्हें कोई कठिनाई अनुभव होती है? उन्होंने उत्तर दिया—अरब छात्र इसाइल के यहूदी छात्रों के साथ रहना पसन्द नहीं करते। मैंने

उनसे पुनः यह प्रश्न किया कि क्या भारत और पाकिस्तान से आनेवाले छात्रों के बारे में भी उनका यही अनुभव है, तो उन्होंने इसका नकारात्मक उत्तर दिया और कहा कि यह आश्चर्य की बात है कि दोनों देशों के बीच तनावपूर्ण सम्बन्ध होते हुए भी भारतीय और पाकिस्तानी छात्र मैत्री की भावना के साथ कैसे रह लेते हैं।

मैंने उनको यह कहकर पूर्ण स्थिति समझाने का प्रयत्न किया कि भारत का विभाजन कृत्रिम आधार पर हुआ है और पूरे इतिहास में हम एक ही रहे हैं, अतः केवल एक राजनीतिक रेखा जनता को विभाजित नहीं कर सकती। मैंने उनसे यह भी कहा कि यदि वहाँ का कोई व्यक्ति उनके पास आ जाय तो वे शायद ही यह पहिचान पायें कि वह भारतीय है या पाकिस्तानी। उन्होंने कहा, "क्यों, यह तो बिल्कुल सरल बात है।" मैंने पूछा कि 'आप कैसे पहिचानेंगे?' उन्होंने कहा, "बहुत सरल है। यदि उसका नाम मुसलमानी है तो वह निश्चय ही पाकिस्तानी है, अन्यथा भारतीय है।" मुझे यह अंगूठाछाप सरल तरीका सुनकर बड़ा आघात लगा। मैंने उनसे विश्वविद्यालय के भारतीय छात्रों की एक सूची देने का अनुरोध किया। उन्होंने वह सूची प्रदान करने का आदेश दे दिया। उसमें लगभग एक दर्जन मुस्लिम छात्र थे। मैंने पूछा कि क्या यह सूची सही है, क्योंकि इसमें कई 'पाकिस्तानी नाम' गलती से शामिल हो गये प्रतीत होते हैं। उन्होंने उसके सही होने की गारण्टी दी। तब मैंने उनको वे मुस्लिम नाम दिखाये और उनसे पूछा कि क्या वे यह जानते हैं कि ये मुस्लिम छात्र हैं, और तब भी उनके नाम भारतीय सूची में शामिल हैं। उन्होंने यह स्वीकार किया कि ये मुस्लिम नाम हैं, किन्तु वे यह नहीं बता सके कि इस सूची में कैसे हैं। वे कुछ चकित और हतप्रभ दिखाई पड़े। जब मैंने उन्हें यह बताया कि उस सूची में मुस्लिम नामों का शामिल होना गलत नहीं है, क्योंकि भारत में अब भी ४.५ करोड़ मुसलमान रहते हैं, तब कहीं जाकर वे सूची के शुद्ध होने के बारे में आश्वस्त हो पाये। उनके लिए यह एक नयी जानकारी थी।

वे लोग भी, जो इस विद्वान डीन की भाँति अनभिज्ञ नहीं हैं, भारत-पाक समस्याओं को हिन्दू और मुस्लिम की दृष्टि से ही देखते हैं। 'न्यूयार्क टाइम्स' का एक स्तम्भ-लेखक 'हिन्दू' विशेषण जोड़े बिना भारत का उल्लेख नहीं कर सकता। वह सदैव 'हिन्दू भारत' और 'मुस्लिम पाकिस्तान' लिखता है, विशेषतः कश्मीर के विषय में लिखते समय। मैंने उसके संपादकीय विभाग के एक सदस्य से इस परम्परा के बारे में प्रश्न किया कि क्या वे जानते हैं कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है, और

वहाँ ४.५ करोड़ मुसलमान रहते हैं। उस सदस्य ने कहा कि "हाँ, हम जानते हैं कि भारत में मुसलमान रहते हैं, परन्तु उससे क्या? आपका देश निस्संदिग्ध रूप से वैसे ही एक हिन्दू देश है, जैसे पाकिस्तान एक मुस्लिम देश है।"

मुझे यह बात याद हो आयी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सदैव इससे इन्कार किया कि वह एक हिन्दू-संगठन है और उसने सदैव मुस्लिम लीग को उसके मुस्लिमों का एकमात्र प्रतिनिधित्व करने के दावे पर चुनौती दी। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए उसने मुसलमानों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से न्यायोचित हिन्दू-हितों की उपेक्षा तक की, परन्तु अंग्रेजों ने कांग्रेस को सदा एक हिन्दू संगठन और मुस्लिम लीग को मुस्लिम संगठन के रूप में ही मान्य किया। पुराना इतिहास अपने को फिर से दुहरा रहा है। भारत यह दिखाने के लिए कि वह हिन्दू देश नहीं है, चाहे जो करे, विश्व उस पर विश्वास नहीं करेगा। पाकिस्तान भी चाहे जितना इस्लामरहित बने, विश्व उसे मुसलमानों का देश मानेगा। अमरीका में ऐसे बहुत-से लोग थे, जिन्हें यह ज्ञात नहीं था कि श्री चागला, जो अमरीका में भारत के राजदूत थे, मुसलमान हैं, और जब उनको यह बताया गया तो उन्हें इस पर विश्वास नहीं हुआ। जो लोग इसे जानते थे, वे भी यह मान्य करने को तैयार नहीं थे कि केवल इसी कारण भारत हिन्दू राष्ट्र नहीं है।

जब मैंने इस विषय पर एक अन्य प्रोफेसर से चर्चा की तब उन्होंने मुझसे कहा—और मैं समझता हूँ कि ठीक ही कहा—कि मुसलमानों को भारत में रहने देने में और उनमें से योग्य व्यक्तियों को विभिन्न कामों के लिए चुनने में कोई गलती नहीं है। उन्होंने कहा कि जब किन्हीं विशेष पदों के लिए विदेशी नागरिकों को नियुक्त किया जा सकता है, तो यदि आपने अपने ही नागरिकों को नियुक्त किया तो उसमें गलत क्या है। किन्तु उन्होंने यह भी कहा कि "चागला ने यदि हिन्दू भारत का प्रतिनिधित्व नहीं किया तो और किसका प्रतिनिधित्व किया?" और यह भी कि "कुछ समय के लिए लार्ड माउण्टबेटन को गवर्नर जनरल रखकर भारत अंग्रेजों का देश तो नहीं बन गया?" मैंने उनसे कहा कि यह तुलना सही नहीं है। भारत के मुसलमान अन्यदेशी नहीं हैं। उन्होंने कहा, "मैं यह बात मानता हूँ। परन्तु जब तक भारत और पाकिस्तान मिलकर फिर से एक नहीं हो जाते, वे हिन्दू और मुस्लिम देश बने रहेंगे।" मुझे प्रसन्नता हुई कि कम से कम ऐसे व्यक्ति से तो मेरी भेंट हुई जो 'अखण्ड भारत' को असम्भव नहीं मानता। यह आश्चर्य की ही बात है कि जब

कांग्रेसी नेता अखण्ड भारत का विरोध करते हैं, तब वे अपने रुख की सुस्पष्ट विसंगति को नहीं देख पाते। विभाजन और धर्मनिरपेक्षता में कोई मेल नहीं है।

(३० मार्च, १९६४)

पाकिस्तान को अमरीकी सैन्य-सहायता

यह कह सकना कठिन है कि पाकिस्तान के राष्ट्राध्यक्ष जनरल अयूब खान की अमरीका-यात्रा का उद्देश्य सफल हुआ है या नहीं। फिर भी, यह स्पष्ट है कि अपने जन्म-काल से पाकिस्तान भारत के विरुद्ध जो कट्टर द्वेष की भावना रखता आया है, वह ज्यों की त्यों चल रही है। अयूब खान की अमरीका-यात्रा का एक उद्देश्य भारत के विरुद्ध विष-वमन करना था, और इस उद्देश्य को उन्होंने तहेदिल से पूरा किया है। प्रेसीडेण्ट केनेडी और जनरल अयूब ने वार्ता के बाद जो संयुक्त विज्ञप्ति जारी की है, उससे इस बात का आभास मिल जाता है कि पाकी राष्ट्राध्यक्ष के भारत-विरोधी अभियान का अमरीकी सरकार एवं अमरीकी जनता के मानस-पटल पर कितना प्रभाव पड़ा है। स्पष्ट है कि अयूब खान अमरीका के साथ अपनी मैत्री का प्रयोग इस प्रकार करना चाहते हैं कि अमरीका भारत के प्रति शत्रु-भाव रखने लगे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेसीडेण्ट केनेडी ने इस दिशा में उन्हें उपकृत नहीं किया है। कश्मीर के प्रश्न पर भी केनेडी ने शीघ्र और शांतिपूर्ण समाधान की आशा व्यक्त की है। स्पष्टतः, वर्तमान परिस्थितियों में अमरीका पाकिस्तान को इसकी अनुमति नहीं दे सकता कि वह कश्मीर के प्रश्न का बहाना लेकर भारत के विरुद्ध युद्धक अभियान करे।

संयुक्त विज्ञप्ति में उल्लिखित सैनिक सहायता के सन्दर्भ में दो भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा रही हैं। सहायता के "विस्तार" का एक अर्थ यह हो सकता है समय का विस्तार, अर्थात् अधिक समय तक सहायता जारी रखी जाय। और दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि सहायता की मात्रा में विस्तार किया जाय। यदि उसमें पहला अर्थ अभिप्रेत है तो इसका अर्थ केवल इतना है कि अमरीका-पाक-संधि जारी रहेगी। फिर भी, यदि विज्ञप्ति का अर्थ पाकिस्तान को अधिक मात्रा में सैनिक सहायता है, तो निश्चय ही भारत के लिए यह चिन्ता का कारण है। अमरीका में अयूब खान ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वर्तमान में भारत और पाकिस्तान के बीच भारी शक्ति-असन्तुलन विद्यमान है और यदि पाकिस्तान की सैनिक शक्ति को भारत की अपेक्षा ऊँचे स्तर पर भले ही न ले जाया जाय, किन्तु यदि भारत के समकक्ष नहीं पहुँचा दिया जाता तो पाकिस्तान के अस्तित्व को सदैव

खतरा बना रहेगा। अब एक ऐसी सरकार, जिसने भारत के विरुद्ध सतत् जेहाद का उन्माद बनाये रखा है और जिसने भारत में असंख्य पंचमस्तम्भियों की फौज बना रखी है, और जो उनके माध्यम से सदा ही भारत की सुरक्षा और शांति में बाधा पहुँचाने के लिए प्रयत्नरत रही है, अपने अस्तित्व के खतरे के बारे में यदि इतना शोर मचाती है तो यह इस बात का संकेत है कि पाकिस्तान के शासक न केवल भारतद्रोही हैं, अपितु काइयाँ भी हैं।

यदि भारत वास्तव में पाकिस्तान का अस्तित्व समाप्त करने का इच्छुक होता तो १९४७ के बाद से ऐसे अवसरों की कमी नहीं रही जब भारत ने वैसा सरलता से कर दिया होता। किन्तु भारत के शासकों ने उस प्रत्येक अवसर पर क्रुद्ध जनमत की घोर अवहेलना की, और इतना ही नहीं अपितु वे पाकिस्तान को प्रसन्न करने के लिए उसे रियायतों के बाद रियायतें प्रदान करते रहे। अब इतने पर भी यदि पाकिस्तान अपने अस्तित्व के बारे में सचमुच आशंकित है तो निश्चय ही ये उसके मन के पाप हैं जो उसे त्रस्त बना रहे हैं।

अमरीकी जनता की कम्यूनिस्ट-विरोधी भावना का लाभ उठाने की नीयत से पाकिस्तान के राष्ट्राध्यक्ष उससे यह कहते रहे हैं कि चीनी सीमा पर भारतीय सेना की एक अत्यन्त छोटी टुकड़ी तैनात है। वे जो कुछ कहते हैं, उसमें सच्चाई हो सकती है, किन्तु क्या वे इस बात की उपेक्षा कर सकते हैं कि स्वयं पाकिस्तान का रवैया ही इसके लिए उत्तरदायी है? हम चीनी आक्रमण को रोकना तो चाहते हैं, पर पाकिस्तान की नीयत की ओर से आँख मूँदे रहकर नहीं। यदि पाकिस्तान की नीयत शांतिपूर्ण होती तो भारत आश्वस्त रहकर अपनी पूरी शक्ति को चीन का सामना करने के लिए केंद्रित कर सकता था। किन्तु, जैसी स्थिति है, हमें दो मोर्चों पर लड़ना है।

वस्तुस्थिति यह है कि पाकिस्तान के साथ सैनिक संधि करके अमरीका ने कम्यूनिस्ट चीन के विरुद्ध युद्ध में भारत के हाथ को दुर्बल कर दिया है। अब आज यदि पाकिस्तान को सैनिक सहायता की मात्रा बढ़ा दी जाती है, तो उसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि भारत को अपनी पाकिस्तानी सीमाओं की ओर अधिक ध्यान देने के लिए विवश होना पड़ेगा। अमरीका को यह निर्णय करना पड़ेगा कि उसकी इच्छा क्या है—क्या वह गुटविहीन स्वतन्त्र भारत को पाकिस्तानी खतरे से मुक्त रखना और इस स्थिति में देखना पसन्द करता है कि वह लाल खतरे के विरुद्ध

अपनी पूरी शक्ति लगा सके? या वह इस बात का इच्छुक है कि भारत का ध्यान कई मोर्चों पर बँटा रहे? 'स्वतन्त्र विश्व' के लिए कौन अधिक उपयोगी होगा—जनतंत्र की कब्र पर स्थापित सैनिक तानाशाहीवाला देश पाकिस्तान, या जनतांत्रिक भारत? आज भारत की सेनाएँ दो बड़े मोर्चों पर विभक्त हैं, जबकि पाकिस्तानी सेनाएँ भारत या अफगानिस्तान की सीमाओं पर तैनात हैं। पाकिस्तान कहाँ और कैसे कम्यूनिस्टों से लड़ रहा है?

सच्चाई यह है कि जिस कानून के अन्तर्गत अमरीका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता दी है, उसका उद्देश्य कम्यूनिस्ट शक्तियों का दमन करना है। केवल इसी उद्देश्य के लिए ऐसी सहायता की अनुमति है। अभी तक तो पाकिस्तान के सम्बन्ध में इस उद्देश्य की पूर्ति के बारे में पूरा ध्यान नहीं दिया गया है, और यदि अमरीका द्वारा उसे दी जाने वाली सैनिक सहायता में और वृद्धि की जाती है तो उसका यह कार्य स्वयं उसी के विधान के विपरीत होगा।

भारत की राष्ट्रीय भावना को पाक-अमरीका-सैनिक-सहायता-संधि से गहरा आघात लगा और उसके परिणामस्वरूप भारत-अमरीका-सम्बन्धों में तीव्र कटुता उत्पन्न हो गयी है। कालान्तर में, और चूँकि अमरीका सरकार ने भारत की तटस्थता की नीति को धीरे-धीरे पसन्द करना आरम्भ कर दिया था, दोनों देशों की जनता के बीच तनाव में कमी आ गयी थी। यदि अमरीका अपनी पूर्व भूल को दुहराता है तो निश्चय है कि अमरीकाविरोधी भावना पुनः उमड़ पड़ेगी। यहाँ के कम्यूनिस्ट, चीन और रूस के हित में, इस स्थिति से लाभ उठाने में तनिक भी नहीं चूकेंगे। कम्यूनिस्ट देशों के साथ भारत के सम्बन्धों से यहाँ के कम्यूनिस्ट पहले से ही राजनीतिक लाभ उठाते आ रहे हैं। प्रधानमंत्री अमरीका जाते समय रूस जाने का विचार कर रहे हैं। यदि अमरीका इस बात का इच्छुक है कि भारत में कम्यूनिस्टों की प्रगति को सशक्त ढंग से रोका जाय, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह भारत की राष्ट्रीय भावनाओं को समझे। पाकिस्तान किसी अन्य देश का पिछलग्गू बनने के लिए अपने स्वाभिमान को दबा दे सकता है, पर गौरवशाली और स्वाभिमानी भारत वैसा कदापि नहीं कर सकता। इसलिए कम्यूनिज्म के विरुद्ध संघर्ष करते समय अमरीका को भारत की स्वतंत्रता एवं उसके राष्ट्रीय स्वाभिमान का आदर करना पड़ेगा।

(२४ जुलाई, १९६१)

क्या कश्मीर पर समझौता हितकर होगा?

प्रधानमंत्री इस महीने १९ दिनांक को पाकिस्तान जा रहे हैं। लोकसभा में उनके द्वारा दिये गये एक वक्तव्य के अनुसार उनकी इस यात्रा का प्रकट उद्देश्य नहर-जल-संधि पर हस्ताक्षर करना है। किन्तु किसी दस्तावेज पर हस्ताक्षर करने के लिए पाँच दिन का लम्बा समय नहीं लगता। स्पष्ट ही, शेष समय का उपयोग भारत और पाकिस्तान के बीच विद्यमान अन्य समस्याओं पर विचार-विमर्श के लिए किया जायेगा। फिर भी, कोई विशेष विषय-सूची नहीं निर्धारित की गयी है। किसी एक विषय-सूची पर बल न दिये जाने की वांछनीयता समझ में आ सकती है, विशेषकर जब दो देशों के दृष्टिकोणों में अधिकांश प्रश्नों पर मूलभूत मतभेद हों। किन्तु वार्ताओं के विषयों के बारे में व्यापक पैमाने पर अटकलबाजियाँ प्रारंभ हो गयी हैं। जबकि नयी दिल्ली चुप है, कराची वाचाल बना हुआ है। कराची और रावलपिण्डी से विश्वसनीय सूत्रों पर आधारित प्राप्त समाचारों से विश्व को यह भली-भाँति ज्ञात हो गया है कि सम्भवतः दोनों नेता कश्मीर के बारे में विचार-विमर्श करेंगे। चूँकि पाकिस्तान में प्रेस पर नियंत्रण है, अतः इन समाचारों को अधिकृत विज्ञप्ति के सिवा अन्य कुछ नहीं माना जा सकता। इन समाचारों से ऐसा प्रकट होता है कि वार्ता का दायरा बहुत व्यापक है और उसमें भारत-पाक-व्यापार से लेकर संयुक्त प्रतिरक्षा तक के अनेक प्रकार के विषय समाविष्ट हैं।

इस तथ्य के बावजूद कि सभी अवशिष्ट एवं संभव प्रश्नों पर विचार-विमर्श हो सकता है, किसी सामूहिक समझौते की संभावना नहीं है। न तो भारत सरकार और न पाकिस्तान सरकार ही इस प्रकार के समझौते को जनता के गले उतार सकेगी। दोनों ने ही अपने-अपने देश को एवं विदेशों को भी कुछ वचन दे रखे हैं, और यदि संयुक्त प्रतिरक्षा जैसे किसी प्रश्न पर केवल विचार भी किया गया तो नीति में मूलभूत परिवर्तन आवश्यक होगा। इन परिस्थितियों में सभी प्रश्नों को उभाड़ना—जिससे अन्त में केवल यही दिखाई देगा कि दृष्टिकोणों में भारी अंतर विद्यमान है—न तो वांछनीय प्रतीत होता है और न बुद्धिमत्तापूर्ण।

ऐसी बात का एक ही परिणाम होगा कि इधर काफी समय से उभय देशों के बीच सम्बन्धों में जो सुधार होता दिखाई देने लगा है, वह रुक जायेगा। यदि

राष्ट्राध्यक्ष अयूब खान की इच्छा सभी प्रकार के अकल्पनीय और अस्वीकार्य प्रस्तावों को रखकर विश्व में केवल यह प्रचार करने की न हो कि भारत का रुख असहयोगात्मक है, तो वार्ता केवल ऐसे ही विषयों तक सीमित रहनी चाहिए जिन पर बहुत थोड़ा मतभेद हो। जैसे-जैसे सम्बन्धों में सुधार होता जायेगा, नाजुक प्रश्नों पर विचार करने योग्य वातावरण का निर्माण होता जायेगा।

वर्तमान में कश्मीर-प्रश्न विशेष चिन्ताजनक है। ज्ञात हुआ है कि वार्ता की अघोषित विषय-सूची में इसे शामिल किया गया है। पाकिस्तान जब तक आक्रमण समाप्त करने की सद्भावना से प्रेरित नहीं होता, वह अच्छी तरह जानता है कि यह समस्या सरलता से हल नहीं हो सकती। इतने पर भी यह प्रश्न शामिल किया गया है, क्योंकि वह शैतानी करना चाहता है। वर्षों से पाकिस्तान कश्मीर के भविष्य के बारे में अनिश्चितता की स्थिति बनाये रखने का खेल खेल रहा है, और उससे कश्मीर-स्थित राष्ट्रद्रोही और पाकिस्तान-समर्थक तत्त्वों को बल मिलता है।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, कश्मीर के बारे में उसे पाकिस्तान के साथ केवल इसी प्रश्न पर विचार करना है कि भारतीय भूखण्ड के उस भाग से वह कब और किस प्रकार हटने वाला है। उसके भारत के साथ संलग्न रहने का प्रश्न काफी पहले और अंतिम रूप से हल हो चुका है। हम उसे फिर से नहीं उघाड़ सकते। यदि पाकिस्तान विलय-पत्र पर महाराजा के हस्ताक्षर के अधिकार पर या जम्मू और कश्मीर राज्य की संविधान-सभा द्वारा उसकी पुष्टि के अधिकार पर आपत्ति करना चाहता है तो ठीक उसी प्रकार हम पाकिस्तान के एक अलग इकाई के रूप में रहने के अधिकार पर ही ऐतराज कर सकते हैं। पाकिस्तान का निर्माण भारत-स्वतन्त्रता अधिनियम (India Independence Act) के अंतर्गत हुआ। उसी अधिनियम ने तत्कालीन ब्रिटिश सरकार की सर्वसत्ता को समाप्त कर दिया और अन्य राजाओं की भाँति ही जम्मू और कश्मीर के महाराजा को भी राज्य के भविष्य के बारे में निश्चय करने का सार्वभौम अधिकार मिल गया। जहाँ तक जनता का प्रश्न है, उस राज्य की संविधान-सभा निश्चय ही इस देश का विभाजन करने वाले नेतृवृन्द या अब पाकिस्तान के नाम से प्रसिद्ध क्षेत्र का शासन करने वालों की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधिमूलक थी। यदि पाकिस्तान घड़ी की सुई को पीछे घुमाना ही चाहता है तो हम ३ जून १९४७ की स्थिति पर वापस लौटें, न कि २६ अक्टूबर १९४७ की स्थिति पर।

यह आवश्यक है कि प्रधानमंत्री कश्मीर के विलय के प्रश्न पर बातचीत करने से इन्कार कर दें, और इस सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में घोषणा करें। उनकी चुप्पी हानिकारक सिद्ध हो रही है। वे अनजाने में पाकिस्तान के हाथों में खेल रहे हैं। इससे जनमत-संग्रह-मोर्चे को तथा उस राज्य के अन्य साम्प्रदायिक तत्त्वों को नया जीवनदान मिलता है। जबकि एक ओर पाकिस्तान कश्मीर के प्रश्न को विषयसूची में सम्मिलित किये जाने का धुआँधार प्रचार कर रहा है, दूसरी ओर शेख अब्दुल्ला और बेग अपने मामले की सुनवाई के सिलसिले में प्राप्त अवसर का यथासंभव उपयोग राजनीतिक वक्तव्य देकर अपने अनुयायियों में नयी आशा का संचार करने की दृष्टि से कर रहे हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि भारतीय समाचारपत्र, जो कश्मीर के बारे में राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति को स्थान देने में अत्यन्त कंजूसी बरतते हैं, राष्ट्रद्रोही तत्त्वों के दृष्टिकोणों को प्रमुख स्थान देकर उनका अभूतपूर्व प्रचार करते हैं। ये सारी बातें उलझनपूर्ण हैं।

एक दृष्टिकोण यह भी व्यक्त किया गया है कि युद्धविराम-रेखा के आधार पर राज्य का यथास्थिति विभाजन स्वीकार कर लेने से समस्या का समाधान संभव है। इसके बारे में कोई भी संकेत नहीं है कि क्या पाकिस्तान ऐसे हल को स्वीकार करेगा? प्रधानमंत्री नेहरू ने एक बार ऐसा प्रस्ताव किया था, परन्तु पाकिस्तान ने उसी क्षण अस्वीकार कर दिया। आज भी, केवल इस देश के लोग और समाचारपत्र ही आगे बढ़-बढ़कर ऐसे हल सुझा रहे हैं। उनमें से अधिकांश उस समूह के हैं जो पाकिस्तान के साथ किसी न किसी प्रकार की संयुक्त प्रतिरक्षा-संधि के लिए इच्छुक हैं और इसलिए उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कोई भी मूल्य चुकाने को तैयार हैं। हम लोगों की ओर से यह अवांछनीय उत्सुकता न तो राजनीतिज्ञता का प्रमाण है और न राष्ट्रभक्ति का।

ऐसे लोगों का तर्क यह है कि युद्धविराम-रेखा के उस पार के एक तिहाई कश्मीरी भाग को फिर से हस्तगत करने की संभावना नगण्य-सी है और इसलिए उस क्षेत्र में हमारी सार्वभौमता के 'गल्प' को जीवित रखकर एक समस्या बनाये रखने की अपेक्षा एक तथ्यात्मक स्थिति को वैधानिक स्तर प्रदान कर देना अच्छा होगा। उनका यह मत है कि चूँकि चीनी आक्रमण का खतरा बढ़ता जा रहा है, हमें अपने को पाकिस्तानी फन्दे से मुक्त कर लेना चाहिए। उन लोगों को आशा है कि एक बार यदि पाकिस्तान के साथ मामला तय हो जाय तो शेष कश्मीर में भी सामान्य स्थिति

लौट आयेगी। ये लोग राष्ट्रीय भावना पर ध्यान नहीं देते, बल्कि राष्ट्रीय भावना और स्वाभिमान की सभी अभिव्यक्तियों को केवल भावुकता बताते हुए अपने आप विशुद्ध यथार्थवादी (Realistic) होने का दावा करते हैं। हमारा मत है कि किसी भी यथार्थवादी व्यक्ति में यह योग्यता भी होनी चाहिए कि वह भावना और भावुकता के बीच में अंतर कर सके और जनता का निर्माण करने में भावना की प्रबल शक्ति को अनुभव कर सके। फिलहाल हम लौकिक दृष्टि से इस प्रस्ताव पर विचार करेंगे और यह देखेंगे कि इस प्रस्ताव में कैसी घातक उलझनें निहित हैं।

यदि युद्धविराम-रेखा को भारत और पाकिस्तान के बीच तथ्याधारित सीमा मान लिया जाय, तो कश्मीर की जनता पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होने की संभावना है? चूँकि ऐसा करना हमारे सार्वभौम अधिकारों का मूलभूत समर्पण और विलयपत्र (Instrument of Accession) की व्यापकता में काट-छाँट होगा, अतः इससे उस राज्य में पाकिस्तानी तत्त्वों को बल मिलेगा। वे राज्य के अपेक्षाकृत अधिक क्षेत्रों को पाकिस्तान में मिलाने के लिए निश्चित रूप से उपद्रव खड़े करेंगे। यह भी अच्छी तरह ज्ञात है कि कश्मीर घाटी की जनता पर कम्यूनिस्टों का भी कुछ प्रभाव है। जनतांत्रिक राष्ट्रीय सम्मेलन (Democratic National Front) कश्मीर में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की ही एक शाखा है। यदि एक बार भारत के साथ कश्मीर राज्य के सम्बन्ध के बारे में अनिश्चितता उत्पन्न हो जाय तो ये लोग तथा अन्य लोग भी अशांत स्थिति में अपने स्वार्थ-साधन के हथकण्डे दिखाना प्रारंभ कर देंगे। यह भी गारण्टी नहीं है कि ये लोग चीनियों के लिए, जो सीमा लांघ चुके हैं, कार्य नहीं करेंगे। इसलिए यह मार्ग अपनाने से उन लोगों का मुख्य उद्देश्य ही विफल हो जायेगा जो चीन का सामना करने की दृष्टि से भारत को अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए कश्मीर का कुछ भाग पाकिस्तान को अर्पित कर देना चाहते हैं।

केवल इस समाचार ने कि कश्मीर का प्रश्न फिर से खोला जा रहा है, बख्शी-सरकार के लिए समस्याएँ पैदा कर दी हैं। श्री गुलाम मुहम्मद बख्शी को इसका श्रेय मिलना ही चाहिए कि उन्होंने भारत के प्रति अपनी वफादारी या निष्ठा को कम कराने के सारे प्रयत्नों को विफल कर दिया है और अभी तक उन्होंने एक सच्चे राष्ट्रप्रेमी के रूप में कार्य किया है। किन्तु यदि उनके हाथों को सशक्त करने और राज्य की राष्ट्रवादी शक्तियों को दृढ़ करने के बदले भारत सरकार कश्मीर के प्रश्न को हवा में झुलाते रहने की नीति का अनुसरण जारी रखती है, तो उन स्थलों

में भी अनिश्चितता पैदा हो जायेगी जहाँ अभी तक सुनिश्चितता बनी रही है। साम्प्रदायिक और क्षेत्रीय भावनाओं ने बख्शी-सरकार की नीतियों को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य के अन्दर एवं बाहर के राष्ट्रीय तत्त्वों पर निर्भर रहने के बदले वे कश्मीर घाटी की साम्प्रदायिक शक्तियों को प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगे हैं। इस प्रयास में उन्हें असफलता के सिवाय और कुछ नहीं हाथ लगने वाला है। किन्तु ऐसी दशा में भारत सरकार की नीति के फलस्वरूप तब तक राज्य के सम्बन्ध में काफी गड़बड़ियाँ पैदा हो चुकी होंगी और जम्मू की जनता को अकथनीय कष्ट झेलने पड़ेंगे।

भारत सरकार की निष्क्रियता की नीति की पृष्ठभूमि में चीनी आक्रमण का प्रश्न भी विचारणीय है। पण्डित नेहरू आक्रमण को खाली कराने के लिए चीन के विरुद्ध कोई भी सैनिक कार्यवाही न करने के लिए कृत-संकल्प प्रतीत होते हैं। ऐसा भी प्रतीत होने लगा है कि अब यह प्रश्न ठण्डा पड़ चुका है। चीन लद्दाख में कब्जा बनाये रखेगा, जैसा कि कश्मीर में पाकिस्तान कर रहा है। एक समय ऐसा आयेगा जब कुछ लोग उस कब्जे को वस्तुस्थिति बताकर उसे मान्य कर लेने की सलाह देने लगेंगे। इस प्रकार हमारे लिए यह दोनों ओर 'खोना' होगा। 'चित' आने पर हमें पाकिस्तान के लिए खोना होगा, और 'पट' आने पर चीन के लिए। आत्मसमर्पण की इस नीति से भारत के विरुद्ध और अधिक आक्रमण को भी प्रोत्साहन मिलेगा।

हमें देश में मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्त्वों की बढ़ रही गतिविधियों पर भी ध्यान देना होगा। वे अधिकाधिक आक्रामक बनते जा रहे हैं। हाल के असम के दंगे के समय की उनकी गतिविधियाँ सर्वज्ञात है। वह दिन दूर नहीं है जब हम देखेंगे कि उन्होंने भी माँग रख दी है और पाकिस्तान उनको उसी प्रकार उकसाता और समर्थन देता रहेगा, जिस प्रकार वह कश्मीर के मामले में कर रहा है। खुशामद से पाकिस्तान की भूख और बढ़ेगी और उन तत्त्वों को बल मिलेगा जो हिन्दुस्थान में इस्लामिस्तान का सपना देखते रहे हैं।

इसलिए यह आवश्यक है कि जहाँ तक कश्मीर के विलय का प्रश्न है, प्रधानमंत्री को कश्मीर के बारे में वार्ता नहीं करनी चाहिए। उन्हें आक्रमण को खाली करने पर बल देना चाहिए। कुछ समाचारों और कुछ लोगों की गतिविधियों के कारण जनता के मन में वार्ताओं के संभावित परिणाम के बारे में आशंकाएँ हैं। हमारी प्रधानमंत्री से यह माँग है कि वे स्पष्ट शब्दों में आश्वासन दें कि वे कश्मीर में भारत के सार्वभौम

अधिकारों में बाधा पहुँचाने वाली किसी बात पर सहमत नहीं होंगे। इस सम्बन्ध में नहर-जलसंधि की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है, जिसके बारे में बताया जाता है कि उसमें पाक-अधिकृत कश्मीर-स्थित मंगला बाँध से सम्बन्धित कोई धारा भी है। जब तक इस धारा को हटा नहीं लिया जाता, तब तक प्रधानमंत्री को उस पर हस्ताक्षर नहीं करना चाहिए। यदि वे उस क्षेत्र में बाँध बनाने के पाकिस्तान के अधिकार को स्वीकार कर लेते हैं तो इस सम्बन्ध में हमारे पूर्व-विरोधों का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। इसका अर्थ भारत के उस विधिसम्मत क्षेत्र पर से हमारे दावे का वास्तविक परित्याग होगा।

जनता को भी सतर्क रहना चाहिए। ऐसे समय में, जब सरकार 'भूदान' में भूमि प्रदान करने के लिए कटिबद्ध है, अकेले वही (जनता ही) देश की एकता और अखण्डता की संरक्षक है। हम सरकार को सुस्पष्ट शब्दों में बता दें कि राष्ट्र के साथ किसी प्रकार का विश्वासघात सहन नहीं किया जायेगा। चाहे वह बेरुबाड़ी हो या कश्मीर, अक्षय चिन (Aksai chin) हो या बाराहोती, सरकार का कार्य राष्ट्रीय क्षेत्रों की रक्षा एवं पोषण करना है, न कि उन्हें जुए में दाँव पर लगाना या किसी को अर्पित कर देना।

(१२ सितम्बर, १९६०)

पश्चिम के बारे में कुछ धारणाएँ

मुझे अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी और पूर्वी अफ्रीका की अपनी यात्रा से स्वदेश लौटे लगभग एक माह हो गया। इस एक माह के अंदर जहाँ कहीं मैं गया हूँ, विदेश में मेरे अनुभव के बारे में जिज्ञासा-सूचक प्रश्न किये गये। भारत के प्रति उन देशों के रुख के बारे में भी प्रश्न पूछे गये। चूँकि ऐसी किसी यात्रा के बाद अपने मत एवं मन पर पड़ी छाप के बारे में कुछ न कुछ लिखना एक 'फैशन' हो गया है, अतः अनेक मित्रों तथा सहयोगियों की ओर से ऐसा करने में विलम्ब के बारे में लगातार शिकायतें प्राप्त हो रही हैं। मैं उनसे क्षमाप्रार्थी हूँ और उनके सामने उसका स्पष्टीकरण कर देना भी अपना कर्तव्य मानता हूँ।

संगठन-विषयक अन्य कार्यों में पूर्ण व्यस्तता के अतिरिक्त हिचकिचाहट की भावना भी इस विलम्ब का कारण रही है। पश्चिमी देशों में जीवन अत्यन्त तीव्र गति से चलता है। तिस पर तुर्रा यह कि चार बड़े देशों की यात्रा पूर्ण करने के लिए मेरे पास ६ सप्ताह से भी कम समय था। यदि मैं कुछ पहले प्रस्थान कर सका होता तो मुझे तीन सप्ताह का और समय मिल जाता, जिसका उपयोग या तो कुछ और देशों या स्थानों की यात्रा के लिए कर सकता या सारे कार्यक्रम कुछ कम जल्दबाजी में निर्धारित करा सकता। परन्तु भारत में कई प्रकार की—सरकारी, नियम संबंधी और लालफीताशाही आदि—बाधाएँ हैं। अन्य देशों की यात्रा के इच्छुक व्यक्ति को इन सब बाधाओं को पार करना पड़ता है। अप्रत्याशित रूप से—या शायद मुझे इसकी आशा रखनी चाहिए थी—इसमें अधिक समय लग गया, और इस प्रकार पूर्वनिर्धारित सारे कार्यक्रम अस्त-व्यस्त हो गये, जिसका परिणाम यह हुआ कि सारे कार्यक्रमों को एक सीमित समयावधि में निभाना पड़ा।

विभिन्न देशों में आतिथेयों द्वारा आयोजित किये गये कार्यक्रमों के अतिरिक्त विभिन्न स्थानों पर भारतीय मित्रों द्वारा निर्धारित कार्यक्रम भी कुछ कम नहीं थे। परिणामस्वरूप एक कार्यक्रम के बाद दूसरा कार्यक्रम इतनी तेजी से चलते रहे कि उनमें से किसी एक की ओर विशेष रूप से ध्यान देना कठिन हो गया। साथ ही, उनके रूप भी असम्पादित सिनेमेटोग्राफ की भाँति इस प्रकार भिन्न-भिन्न थे कि उनकी छाप बिल्कुल अल्पकालिक ढंग की रही। इस स्थिति में उन लोगों को, जो

मुझसे कुछ अधिकृत वक्तव्य की या स्थिति के समुचित विश्लेषण की आशा रखते हैं, निराशा ही हाथ लगेगी। विस्तृत विवरण में जाने की मेरी अनिच्छा के कारण उनकी निराशा और भी बढ़ेगी। अतः मेरी हिचकिचाहट का यही कारण रहा। इसलिए मैं अपने पाठकों से यही अनुरोध करूंगा कि यहाँ अभिव्यक्त मेरे दृष्टिकोण को वे एक ऐसे व्यक्ति का केवल एक आकस्मिक पर्यवेक्षण समझें जिसे सारी बातों पर अत्यन्त शीघ्रता में और केवल सामान्य दृष्टिपात करने का अवसर मिला।

इन सभी देशों में मुझे भारत के प्रति शुभेच्छा का अच्छा खासा भण्डार देखने को मिला। जहाँ कहीं हमसे उनका मतभेद भी है, वहाँ हमारे दृष्टिकोण को समझने की इच्छा भी है। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि सर्वसाधारण में अब भी भारत के बारे में न केवल अत्यन्त अज्ञान व्याप्त है, बल्कि मिस मेयो एवं उन सरीखे अन्य व्यक्तियों द्वारा उनके सामने भारत का विकृत चित्र भी प्रस्तुत किया गया है। सँपेरों, लम्बी दाढ़ी तथा जटायुक्त योगी और बंजारा युवतियों के चित्रों को इतना प्रचारित किया गया है कि अधिकांश व्यक्तियों को यह जानकारी नहीं है कि ये सब भारतीय जीवन के केवल कुछ असामान्य पहलुओं का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

अमरीका में श्री वी.के. कृष्ण मेनन और श्री जान फोस्टर डलेस, इन दोनों के कारण कुछ राजनीतिक गलतफहमियाँ भी दृढ़मूल हैं। राजनीतिक बद्धमूलता के कारण 'प्रेस' में पक्षपात की प्रवृत्ति पैदा हुई है, और उसके माध्यम से लोगों में भी यही भावना फैली है। हाँ, अभी हाल में, जब चीन ने हिमालयी सीमा पर भारी आक्रमण कर दिया और पाकिस्तान ने चीन के साथ लल्लो-चप्पो करना आरम्भ कर दिया है, तब कहीं जाकर कुछ लोगों ने भारत के विषय में कुछ सोद्देश्य ढंग से विचार करना प्रारम्भ किया है।

हमारा प्रचार-तंत्र भी बहुत दुर्बल है। प्रचार-कार्य के जिम्मेदार अपने लोगों की कठिनाइयाँ हम अनुभव कर सकते हैं, परन्तु इस एक विशेष दिशा में हमारे दृष्टिकोण का प्रचार करने के लिए अधिक प्रयत्न किया जाना चाहिए। अमरीका का एक सैनिक-मित्र देश होने के कारण पाकिस्तान वहाँ निश्चय ही हमारी अपेक्षा अधिक सुविधा की स्थिति में है, परन्तु हम अपनी इस कमी को सरलता से दूर कर सकते हैं, क्योंकि तर्क और सत्य सदा हमारे साथ हैं। साथ ही, किसी सैनिक संधि में हमारे सम्मिलित न होने के पर भी अमरीकी जनता के प्रति हमारे मन में सदा मैत्री और आदर की भावना रही है। यदि इस भावना का समुचित उपयोग किया गया होता तो

आज वे भ्रान्तियाँ न उत्पन्न हुई होतीं, जिनके कारण हमारे काम को क्षति पहुँची है।

इस तथ्य के बावजूद कि अमरीकी नागरिकों को कर के रूप में अधिक डालर चुकाने पड़ेंगे, भारत तथा अन्य सभी अल्पविकसित देशों की आवश्यकताओं को सामान्यतः स्वीकार किया जाता है, और उनकी सहायता करने की इच्छा भी है। हमारी समस्याओं के सम्बन्ध में हमारे प्रति सहानुभूति की भावना भी है और हमको उन समस्याओं से पार पाने में समर्थ बनाने के लिए सभी संभव सहायता प्रदान करना भी वे चाहते हैं। यह एक व्यापक भावना है। अमरीकी कांग्रेस द्वारा समय-समय पर विदेशी सहायता में जो कटौती की जाती रही है, वह जनता की समुचित भावना को प्रतिभासित नहीं करती। यह एक संयोग की बात मानी जा सकती है, परन्तु मुझे तो एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जिसने कांग्रेस (अमरीकी कांग्रेस) की नीति को गलत नहीं बताया।

कुछ क्षेत्रों में भारत से बदले में कुछ पाने की भी इच्छा है। एक अमरीकी प्राध्यापक ने स्वीकार किया कि यदि अमरीका भारत को उसके भौतिक साधनों के विकास में सहायता कर सके तो भारत बदले में अमरीकी जनता को यह सिखा सकता है कि वे किस प्रकार स्नायुओं को शान्त कर शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते हैं। निश्चय ही दोनों देशों के जीवन में बहुत-सी प्रशंसनीय बातें हैं, और यदि इस दिशा में उचित कदम उठाये जायें तो वे न केवल एक-दूसरे के लिए सहायक एवं लाभकर होंगी बल्कि जीवन-पद्धतियों में एक समन्वय पैदा कर देंगी, जो एक समृद्धिशाली तथा परितुष्ट मानवता के क्रमोन्मेष के लिए अति आवश्यक है।

यह सरलता से देखा और अनुभव किया जा सकता है कि अमरीका विश्व में अपनी स्थिति तथा तज्जन्य अपने दायित्वों के प्रति जागरूक है। उसके अधिकांश नीति-निर्णय किसी स्पष्ट आर्थिक, सैनिक या राजनीतिक लाभ पर आधारित होते हैं, परन्तु इन निर्णयों का लगातार समर्थन करते समय जनता के मस्तिष्क में संचरित मूलभूत भावनाएँ वे नहीं हैं। अमरीकी जनता की मानसिक प्रवृत्ति में निश्चय ही क्रान्ति हुई है, विशेषतः द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद। कुछ लोगों को शंकाएँ हो सकती हैं कि इस प्रकार की अभिभूतात्मक भावनाओं के दबाव के अन्तर्गत सरकार अन्य राष्ट्रों के प्रति किसी प्रकार का उद्दण्ड रुख अपना सकती है, जैसा कि श्वेत लोगों के कथित दायित्व के नाम पर अंग्रेजों ने किया था। फिर भी मेरा मत है कि परिवर्तित परिस्थितियों और चारित्र्य तथा परम्परा में भेद के कारण एवं अमरीका में प्रगति के

लिए व्यापक क्षमता के कारण भी ऐंग्लो-सैक्सन जाति के इतिहास के दुहराये जाने की कोई संभावना नहीं है।

जो लोग दीर्घकाल तक उपनिवेश के रूप में शासित किये जाते रहे हैं उनके लिए स्वाभाविक है कि वे खतरा मोल लेना पसन्द न करें, किन्तु यह सदा आवश्यक एवं वांछनीय है कि स्वार्थपूर्ण कार्यवाहियों को आधार न बनाकर उनके राष्ट्रीय पुनरुत्थान के मूलस्रोत के ज्ञान एवं गुणवत्ता के ठोस आधार पर दो बिन्दुओं के बीच सुसम्बन्धों का निर्माण किया जाय। अमरीका की भौतिक समृद्धि तथा प्राचुर्य से अधिक यह पुनरुत्थान की भावना ही है जो उसकी सारी गतिविधियों को दिशा प्रदान करती प्रतीत होती है। क्यूबा के राष्ट्रीय संकट के शिकार हुए लोगों की सहायता करने या सोवियत रूस तथा अन्य पूर्वी यूरोपीय देशों को गेहूँ प्रदान करने की उसकी इच्छा उसकी इसी भावना की परिचायक है। यहाँ तक कि घोर संकटकाल में भारत को मुक्त हृदय से सहायता, जनता की इसी एकमेव इच्छा से उद्भूत है। यदि इस भावना को अभिव्यक्ति के लिए समुचित एवं उपयोगी मार्ग मिले तो यह अन्य राष्ट्रों के लिए बहुमूल्य सिद्ध होगी और उसके परिणामस्वरूप अमरीका का व्यक्तित्व और अधिक विकसित हो सकेगा।

(३० दिसम्बर, १९६३)

परराष्ट्र-नीति और प्रतिरक्षा

गत मास भोपाल में सम्पन्न भारतीय जनसंघ के दशम वार्षिक अधिवेशन ने चीनी आक्रमण की पृष्ठभूमि में यथा-आवश्यकता दल की नीतियों और कार्यक्रमों के पुनर्मूल्यांकन, पुनर्निर्धारण के बारे में विचार करने के लिए प्रतिनिधियों को एक अवसर प्रदान किया। मुख्यतः यही बात ध्यान में थी, जिस कारण इन्दौर में एक सामूहिक अधिवेशन आयोजित करने के पूर्वनिर्णय में परिवर्तन कर दिया गया। विशाल संख्या होने पर गंभीर विषयों पर विचार-विमर्श कठिन हो जाता है। यहाँ भी प्रतिनिधियों की संख्या, जो तेरह सौ से अधिक थी, प्रत्याशित से अधिक रही। फिर भी, यह व्यवस्था-शक्ति के अन्दर ही थी। साथ ही, प्रतिनिधियों ने स्थिति के प्रति अभूतपूर्व जागरूकता प्रदर्शित की तथा उत्तरदायित्व के प्रति उनकी चेतना अत्यन्त रचनात्मक ढंग से अभिव्यक्त हुई। उनके सोद्देश्य एवं सहयोगात्मक व्यवहार के कारण ही नीतियों के सभी पहलुओं पर पूर्ण रूप से विचार-विमर्श हो सका, और प्रायः सभी प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार किये जा सके। प्राविधिक (टेक्निकल) बातें, जिनको कुछ विधिज्ञ, विधिनिर्माता तथा व्याख्याकार बहुत महत्त्व देते हैं, विचार-विमर्श में बाधक नहीं बन पायी। इस प्रकार के राजनीतिक सम्मेलन में उन्मुक्त एवं स्पष्ट मताभिव्यक्ति आवश्यक होती है, जिससे कार्यकर्ताओं की शंकाओं का समाधान हो सके, ताकि वे भी देश भर में जनता का सन्देह-निवारण कर सकें। विषय-समिति की बैठक में हुई चर्चा के दौरान इस उद्देश्य की पर्याप्त सीमा तक पूर्ति हो गयी। मध्य प्रदेश जनसंघ और उसके महामंत्री श्री कुशाभाऊ ठाकरे अधिवेशन का स्थान परिवर्तित कर देने के बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। विधानसभा-विश्रामगृह, जो नगर से काफी दूर है तथा जहाँ के दृश्य अत्यन्त मनोहारी हैं, इस कार्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त था।

भारतीय जनसंघ के लिए चीनी आक्रमण अप्रत्याशित नहीं था। हम उसके राक्षसी मनोभावों के प्रति सतर्क थे और सरकार को तथा देश की जनता को तात्कालिक आसन्न संकट के बारे में सतत् चेतावनियाँ देते आ रहे थे। अपनी नीतियों और कार्यक्रमों को निर्धारित करते समय जनसंघ ने इस संभावना पर भी विचार किया था, अतः भोपाल में जो प्रस्ताव पारित किये गये वे विगत नीतियों से सम्बन्ध-विच्छेद का

संकेत नहीं देते। मुख्यतः जनसंघ के दृष्टिकोण का सिंहावलोकन तथा पुनरुच्चार ही किया गया। यदि कोई नयी बात थी तो यही कि वर्तमान स्थिति के विशेष सन्दर्भ में दल के कार्यक्रम को सुविस्तृत ढंग से उच्चारित किया गया। अणुबम के निर्माण के लिए सरकार से की गयी अनुशंसा (श्री रामचन्द्र बड़े का संशोधन) का विशेष रूप से उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि वाराणसी-अधिवेशन में भारतीय प्रतिनिधि सभा ने ऐसे सुझाव को अस्वीकृत कर दिया था। उस समय जो व्यापक समस्याएँ उसकी दृष्टि में थीं, वे हमारे सिंहद्वार पर चीनी संकट की उपस्थिति के सामने महत्त्वहीन हो गयी प्रतीत होती हैं।

वहाँ की कार्यवाहियों एवं प्रस्तावों को समाचार-पत्रों ने पर्याप्त अच्छे प्रकार से प्रकाशित किया। फिर भी, परराष्ट्र-नीति के बारे में परस्पर-विरोधी समाचार प्रकाशित हुए और उस आधार पर कुछ समाचारपत्रों के अग्रलेखों में जनसंघ के अन्दर भिन्न-भिन्न एवं परस्पर-विरोधी दृष्टिकोण विद्यमान होने का फतवा दे दिया गया। एक जनतांत्रिक संगठन के रूप में जनसंघ कठोर एकमत का पक्षधर नहीं है, विशेषकर नीति-प्रस्तावों की तैयारी के चरण में। किन्तु दल की परराष्ट्र-नीति के बारे में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तथाकथित मतभेद केवल काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं। मतवैभिन्य दिखाई इसलिए पड़ता है कि सरकार की वर्तमान नीतियों की आलोचना पर किसी ने कम और किसी ने अधिक बल दिया। यदि किसी विशेष अवसर पर दल की विदेश-नीति में किसी परिवर्तन की स्पष्ट घोषणा की आवश्यकता न पड़े तो बहुधा लोग कतिपय आलोचनाओं के आधार पर न जाने क्या-क्या निष्कर्ष निकाल लेते हैं। जनसंघ के दृष्टिकोण को यदि कार्यकारिणी समिति (Working Committee) और विषय-समिति (Subject Committee), दोनों द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत उसके प्रस्ताव के आधार पर परखा जाता तो अधिक अच्छा होता। समाचारपत्रों में परस्पर-विरोधी रिपोर्टें प्रकाशित होने के उपरान्त भी—और ये रिपोर्टें उस समय प्रकाशित हुईं जब अभी 'विषय-समिति' प्रस्ताव पर विचार कर रही थी—प्रतिनिधियों के मन में कोई उलझन नहीं पैदा हुई। तथाकथित विवादास्पद 'गुटमुक्तता और गुटयुक्तता' से सम्बन्धित प्रस्ताव पर विचार के समय किसी ने कोई संशोधन तक नहीं सुझाया।

चीनी आक्रमण के बाद से देश की वर्तमान नीति पर जितनी अधिक बहस हुई है, उतनी अन्य किसी विषय पर नहीं हुई। यहाँ तक कि प्रतिरक्षा-नीति भी पीछे रह

गयी। इस बहस का प्रथम कारण यह भ्रान्त धारणा है कि प्रतिरक्षा मुख्यतः देश की परराष्ट्र-नीति पर निर्भर रहती है, और दूसरा कारण यह है कि कुछ निहित स्वार्थवाले लोगों की यह इच्छा है कि वर्तमान संकट का लाभ उठाकर हमारा ध्यान अन्य दिशा में मोड़ दिया जाय। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर नकारात्मक दृष्टि से विचार करते हैं। कुछ उलझन इसलिए भी पैदा हो गयी है कि अपने परराष्ट्र-सम्बन्धों के विशाल दायरे को हम केवल एक शब्द में अभिव्यक्त करना चाहते हैं और वह है या तो 'गुटमुक्तता' या 'गुटयुक्तता'। हम भूल जाते हैं कि ये शब्द एक विशेष संदर्भ में एक विशेष भाव का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमें सामान्यीकरण की भूल नहीं करनी चाहिए। हमें यह भी अनुभव करना चाहिए कि एक गतिशील स्थिति में किसी एक विचार से बँधे रहना लाभकर नहीं होता। साथ ही, अन्य नीतियों की ही भाँति परराष्ट्र-नीति भी चरम लक्ष्य नहीं बन सकती। उसे परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप ढालना होता है।

भारतीय जनसंघ का विश्वास है कि किसी देश की परराष्ट्र-नीति राष्ट्र के प्रकट हितों की सिद्धि के एकमेव उद्देश्य से ही तैयार की जानी चाहिए। उसे यथार्थवादी होना चाहिए और उसे विश्व की पार्थिव प्रकृति को ध्यान में रखना चाहिए। चूँकि जनसंघ देश की प्रतिरक्षा को सर्वदा सर्वोच्च मानता रहा है, उसका मत है कि परराष्ट्र-नीति की रचना इस लक्ष्य की पूर्ति की दृष्टि से करनी चाहिए। फिर भी, जनसंघ जानता है कि किसी भी देश की रक्षा केवल परराष्ट्र-नीति के कुशल संचालन से ही नहीं हो सकती—भारत की तो निश्चय ही नहीं।

जो लोग यह मानते हैं कि देश पर आक्रमण का अर्थ उसकी परराष्ट्र-नीति की विफलता होता है, वे इस पर बहुत अधिक बल देते प्रतीत होते हैं। वे भी वही भूल कर रहे हैं, जो भारत सरकार ने साम्यवादी चीन के साथ पंचशील-संधि के कारण प्रतिरक्षा-तैयारी की उपेक्षा करके की थी। यदि भारत सरकार अवास्तविकता के विश्व में रह रही थी, तो इस दिशा में उसके आलोचक भी वही भ्रान्तिपूर्ण भावना रखते प्रतीत होते हैं।

ब्रिटिश साम्राज्य की प्रतिरक्षा (Defence of the Empire) पर द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान नौसैनिक बेड़े के एडमिरल लार्ड चैटफील्ड (Lord Chatfield) के एक लेख से लिया गया निम्नांकित उद्धरण असन्तुलन को दूर करने में सहायक होगा :

"परराष्ट्र-नीति और प्रतिरक्षा के बीच अत्यधिक सम्बन्ध जताने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। प्रथम महायुद्ध के बाद बहुत से लोग इस विचार से अभिप्रेरित थे कि चूँकि शांति-संधियाँ एक लम्बे भविष्यकाल के लिए विश्व की परराष्ट्र-नीति को निश्चित कर देती हैं, अतः हम अपनी प्रतिरक्षा की तथा अपनी राष्ट्रीय और साम्राज्यीय युद्ध-संगठन की उपेक्षा कर सकते हैं। परन्तु विश्व की स्थिति चाहे जितनी सन्तोषजनक दिखाई पड़े, हमें पर्याप्त शक्तिशाली बने रहना चाहिए। परराष्ट्र-नीति पर किसी भी क्षण में निर्णय की आवश्यकता पड़ सकती है और अविलम्ब निर्णय किया भी जा सकता है, परन्तु प्रतिरक्षा के बारे में अचानक निर्णय नहीं किया जा सकता क्योंकि हमें अपनी शक्ति में परिवर्तन लाने में दीर्घ समय लगता है। इसलिए प्रतिरक्षा-योजनाएँ पर्याप्त पहले से बनायी जानी चाहिए।"

यदि हमने देश की प्रतिरक्षा के लिए पर्याप्त तैयारी नहीं की तो उसमें परराष्ट्र-नीति का दोष नहीं है। वही परराष्ट्र-नीति उस समय, जब हमें उसकी आवश्यकता अनुभव हुई, मित्र देशों से भारी पैमाने पर सैनिक सहायता लेने में बाधक नहीं बनी, और यदि वर्तमान नीति बदल भी जाय तो भी सरकार देश की सैनिक तैयारी की उपेक्षा जारी रखे तो क्या कोई यह आश्वासन दे सकता है कि कोई आक्रमण नहीं होगा? या, यदि होगा तो सफलता से उसका सामना किया जा सकेगा? परराष्ट्र-नीति प्रतिरक्षा-नीति का स्थान नहीं ले सकती। वह केवल उसकी पूरक बन सकती है।

तटस्थता के विवादास्पद प्रश्न पर भी विचार किया जाना चाहिए। कुछ लोग ऐसे हैं जो इस शब्द के अंधभक्त बने हुए हैं, मानो वह एक ऐसी कील है जिसके चतुर्दिक् ही परराष्ट्र-नीति का सारा ढाँचा चक्कर काटता रहता है। इस प्रकार की कोई बात नहीं है। गुटमुक्तता का महत्त्व केवल दो शक्तिगुटों के संदर्भ में ही है। किन्तु गत एक दशाब्दी की अवधि में कई नयी शक्तियाँ पैदा हो गयी हैं और नये गुट बन गये हैं। यह सच है कि अमरीका और सोवियत रूस जैसी शक्तिशाली धुरियों के अभाव में ये नये गुट अधिक महत्त्व का स्थान नहीं पा सके हैं, फिर भी उनके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। अफ्रो-एशियाई शक्तिगुट एक ऐसा ही गुट है जिसमें गुटमुक्त और गुटयुक्त, सभी देश शामिल हैं।

साम्यवादी चीन भी एक नयी आक्रामक शक्ति है जो एशिया और विश्व की शान्ति को खतरा पहुँचा रहा है। इस नये संकट को पुरानी दृष्टि से देखना

राजनीतिज्ञता नहीं होगी। उस दशा में चीन के साथ युद्ध विश्व-युद्ध बन जायेगा, जिसमें एक गुट दूसरे गुट का मुकाबला करेगा। क्या वह हमारे लिए या विश्व के लिए लाभकर होगा? इसका अर्थ अपनी भूमि पर विश्व-युद्ध का आह्वान करना होगा। यदि हम ऐसी विपत्ति मोल लेने के लिए तैयार भी हों, तो युद्ध और शान्ति दोनों के लिए पहल अमरीका और सोवियत रूस के हाथ में चली जायेगी, और यदि कोई चैम्बरलेन दूसरे म्यूनिख की पुनरावृत्ति करने का निश्चय कर ले तो हम इसके अतिरिक्त और क्या कर सकेंगे कि बेचारे चेकोस्लोवाकिया की भाँति असहाय दर्शक बने रहें।

इसलिए जहाँ तक दो गुटों के संघर्ष का सम्बन्ध है, उन्हें दूर रखना आवश्यक है। हम एक नया गुट बनायें—एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाने के कारण 'गुट' शब्द से बचा जा सकता है और हम उसे एक नयी 'मैत्री' या 'संघ' नाम दे सकते हैं। हम इस नये सम्बन्ध-क्षेत्र और संयुक्त प्रयास में गुटमुक्त या गुटयुक्त सभी देशों को सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित कर सकते हैं। बताया गया है कि स्वतंत्र पार्टी के नेता श्री एन.जी. रंगा ने कहा है कि सोवियत रूस को भी एक मित्र के रूप में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया जा सकता है। स्पष्ट है कि यदि हम पुराने गुट से चिपके रहें तो यह संभव नहीं हो सकता। जहाँ तक उसका सम्बन्ध है, हमारी नीति गुटमुक्तता की बनी रहेगी। किन्तु इस नये संघ में हम निश्चय ही पश्चिमी विश्व के साथ रह सकते हैं, क्योंकि उन देशों ने हमारी सहायता करने की इच्छा प्रदर्शित की है। इसके अतिरिक्त एशिया के कुछ गुटमुक्त देशों को, जिन्हें चीन के विस्तारवादी खतरे का आभास कराया जा सकता है, और कुछ साम्यवादी देशों को भी, यदि वे चीन की आक्रमण की नीति की निन्दा करें, नये संघ में सम्मिलित कर सकते हैं। यदि नाजी जर्मनी को पराजित करने के लिए जनतांत्रिक पश्चिम और साम्यवादी रूस हाथ मिला सकते हैं, तो हम उपर्युक्त 'संघ' की कल्पना को केवल एक 'सुनहरा सपना' कहकर निरस्त नहीं कर सकते। इस प्रकार नये मित्र देश और नये तटस्थ देश दृष्टिगत होने लगेंगे। यदि साम्यवादी देश तटस्थ भी रहे तो वह हमारे लिए एक लाभ ही होगा। जनसंघ ने इस दिशा में प्रयत्न किये जाने की माँग की है। प्रधानमंत्री ने भी कहा है कि चीनी आक्रमण के संदर्भ में 'गुटमुक्तता' का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। इस योजना को कार्यान्वित करने की दिशा में पग उठाये जाने चाहिए।

स्थिति का तकाजा है कि सरकार अपनी चीन-नीति में पूर्ण परिवर्तन करे।

जनसंघ इस सम्बन्ध में माँग करता रहा है कि

(१) चीन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध भंग कर दिये जायँ,

(२) तिब्बत पर चीनी सार्वभौमता की मान्यता वापस ली जाय और

(३) दलाई लामा की सरकार को तिब्बत की प्रवासी सरकार के रूप में मान्यता दी जाय और तिब्बत की मुक्ति के लिए सभी प्रकार की सहायता प्रदान की जाय।

फिर भी नीति का क्रियान्वय उस नीति का एक अविभाज्य अंग है। कोई भी विदेश-नीति, यदि उसे उचित रूप से प्रस्तुत नहीं किया जाता और उसको व्यवहार में नहीं लाया जाता तो वह विफल होने ही वाली है, चाहे वह कितने ही सही ढंग से क्यों न तैयार की गयी हो। यही वह बिंदु है जहाँ हमने गंभीरतम भूलें की हैं। विदेशों में स्थित हमारे प्रवक्ता हमारी नीति को सोवियताभिमुख रूप दे देते हैं। इसी प्रकार हम चीन और पाकिस्तान दोनों के विरुद्ध अपना पक्ष ठीक से प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हुए हैं। जनसंघ का मत है कि यदि हमारे कूटनीतिक तंत्र को ठीक से चला दिया जाय तो हम अपनी मूलभूत नीतियों में कोई परिवर्तन किये बिना ही अच्छा परिणाम प्राप्त कर सकते हैं।

(४ फरवरी, १९६३)

कांगो और बेरूबाड़ी

संसद् के लगभग एक सौ सदस्यों ने, जिनमें से अधिकांश कांग्रेस पार्टी के हैं, राष्ट्रसंघ और विश्व की संसदों के नाम एक अपील जारी की है, जिसमें कांगो के प्रधानमन्त्री श्री लुमुम्बा को अविलम्ब मुक्त कराने का अनुरोध किया गया है। इन लोगों ने अन्य देशों के सांसदों से भी अनुरोध किया है कि "कांगो की स्थिति को और बिगड़ने देने से रोकने के लिए, कांगो की सच्ची संसद् को कार्य करने की स्थिति में लाने के लिए, कर्नल मोबुतू के नेतृत्व में कार्यरत सशस्त्र समूहों को अविलम्ब भंग करा देने के लिए, सभी बेल्जियन अधिकारियों के कांगो से निष्कासन के लिए तथा कांगो में बेल्जियम के एवं अन्य देशों के हस्तक्षेप को समाप्त कराने के लिए" वे अपनी सरकारों पर अपने प्रभाव का उपयोग करें। और ठीक उसी समय, जब ये सदस्य यह अनुरोध कर रहे थे, बेरूबाड़ी जन-शिष्टमण्डल (Berubari People's Delegation) "बेरूबाड़ी की १२ हजार जनता को एक विदेशी शक्ति की दया पर सौंपे जाने तथा एक निरंकुश शासन के हाथों प्रदण्डित किये जाने एवं अनन्त कष्टों के हवाले किये जाने" से अपनी रक्षा के लिए उनके पास एक स्मरणपत्र प्रस्तुत कर रहा था।

हमें नहीं मालूम कि श्री लुमुम्बा की मुक्ति के लिए अपील करने में संसद् के सदस्यों के पास मानवीयता के अतिरिक्त और भी कोई आधार है या नहीं, परन्तु बेरूबाड़ी की जनता का भेड़ियों के सामने न फेंके जाने की प्रार्थना के साथ संसद्-सदस्यों की शरण में आना कहीं अधिक औचित्य रखता है। विश्व की संसदें उस विषय में केवल एक प्रकार का नैतिक दबाव भर डाल सकती हैं, किन्तु भारत की संसद् बेरूबाड़ी के प्रार्थियों को न्याय दिलाने के लिए निश्चित रूप से ठोस और पूर्णतः प्रभावकारी पग उठा सकती है। पर इसकी आशा बहुत कम है कि संसद् के सदस्य अपने इस उत्तरदायित्व के प्रति जागरूकता दिखायेंगे। उन्हें बेरूबाड़ी की जनता की अपेक्षा श्री लुमुम्बा के लिए अधिक सहानुभूति है। जब कर्नल मोबुतू के सैनिक दुर्व्यवहार करते हैं, तब इनके हृदय रक्तारक्त हो जाते हैं; पर पाकिस्तानियों के हाथ में सौंप दिये जाने के कारण उनके हाथों भारतीय नागरिकों को जब सभी प्रकार के अपमान सहने पड़ रहे हैं तो ये निरपेक्ष भाव से देखते रहते हैं। कितना

अपमानजनक विरोधाभास है!

इस तथ्य के उपरान्त भी कि सारे देश ने प्रचण्डता से बेरुबाड़ी के हस्तान्तरण का विरोध किया है, पण्डित नेहरू अपनी योजना को कार्यरूप में लाने के लिए कृतसंकल्प हैं। उन्हें सांविधानिक बन्धनों की परवाह नहीं। उनके असांविधानिक कार्यों को वैध ठहराने के लिए संविधान में ही संशोधन कर दिया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि विदेशी प्रेस में छपी आलोचनाओं के कारण वे अपने वचन को क्रियात्मक रूप देने के लिए और भी अधिक कृतसंकल्प हो गये हैं। इस प्रकार हमारी सरकार की नीति देश के किसी व्यक्ति द्वारा नहीं, बल्कि अन्य देशों के अग्रलेख-लेखकों द्वारा निर्धारित की जाती है। जनता के हाथ में सार्वभौम सत्ता नहीं निहित है, बल्कि वह 'मैंचेस्टर-गार्जियन' और अमेरिकन 'टाइम' के हाथों में निहित है। विदेशी प्रभावों के प्रति यह अति-संवेदनशीलता केवल मानसिक दासता की स्थिति की द्योतक है जो स्वतंत्रता- प्राप्ति के बाद अब तक बनी हुई है।

निर्मल बोस द्वारा भारत की केन्द्रीय सरकार तथा अन्यों के विरुद्ध प्रस्तुत याचिका पर अपने निर्णय में कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री सिन्हा ने लिखा है : "यह अकल्पनीय प्रतीत होता है कि संविधान में ऐसी व्यवस्था है कि कोई नागरिक प्रातःकाल नींद से जागने पर यह पाये कि उसे तथा उसकी सारी सम्पति को बिना उसकी जानकारी या अनुमति के एक विदेशी शक्ति को सौप दिया गया है।" किन्तु कृपालु कांग्रेस सरकार के अन्तर्गत भारत में यह अकल्पनीय बात घटित होने जा रही है।

जिस ढंग से संशोधन प्रस्तुत किया गया है, उससे यह भी प्रकट होता है कि सरकार में जनता का सामना करने का साहस नहीं है। पश्चिम बंगाल में जो कुछ हुआ है, और जिस लज्जास्पद तरीके से डा० विधानचन्द्र राय ने पैंतरा बदल दिया है, वह केवल इस बात का द्योतक है कि कांग्रेसी लोग बिना अनुताप-पश्चात्ताप के किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय में जाने के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत करने के अवसर से सदस्यों को वंचित करने के एकमेव उद्देश्य से पश्चिम बंगाल विधानसभा का बीच में ही सत्रावसान केवल यही प्रकट करता है कि सरकार का पक्ष बहुत दुर्बल है। वह देश के उच्चतम न्यायालय के एक और निर्णय का सामना करने के लिए तैयार नहीं है।

पश्चिम बंगाल विधानसभा द्वारा संविधान-संशोधन-विधेयक को सर्वसम्मति से

इस टिप्पणी के साथ लौटा दिये जाने के बाद कि 'यह असांविधानिक है', पश्चिम बंगाल सरकार के सम्मान का यह तकाजा है कि वह इस सम्बन्ध में विधानसभा में और कोई प्रस्ताव प्रस्तुत किये बिना ही सर्वोच्च न्यायालय में जाय। यदि वह ऐसा नहीं करती तो यह विधानसभा के प्रति असम्मान होगा।

केन्द्रीय सरकार ने पहले यह संकेत दिया था कि उक्त विधेयक वर्तमान अधिवेशन में नहीं आ सकेगा, किन्तु बेरुबाड़ी के सम्बन्ध में नेहरू-नून-समझौते में संशोधन करने से पाकिस्तान के इन्कार कर देने के बाद उसने एकाएक इस विधेयक को संसद् के वर्तमान अधिवेशन में प्रस्तुत कर देने का निश्चय कर लिया। जिन लोगों ने पाकिस्तान के रुख में परिवर्तन की आशा की थी, उनकी आँखें खुल जानी चाहिए। पण्डित नेहरू की इस विकट स्थिति में उनकी सहायता करने के बदले पाकिस्तान उनको और अधिक विकट परिस्थिति में ला खड़ा करने का प्रयत्न कर रहा है। इस सम्बन्ध में राष्ट्राध्यक्ष अयूब के हाल के उद्गार बड़े तीखे हैं। उन्होंने व्यंग्य कसा है और वे प्रधानमंत्री नेहरू की परेशानियों पर प्रसन्न हैं। शेक्सपीयर के यहूदी (Jew) की तरह वह एक पौण्ड मांस पाने पर ही जोर देते हैं। यह आवश्यक है कि उन्हें इसी प्रकार का पाठ सिखाया जाय।

ऐसी संधि जो किसी देश के संविधान का उल्लंघन करती हो, अन्तरराष्ट्रीय विधि में वैध नहीं है। यहाँ तक कि संविधान में संशोधन भी पीछे की तिथि से प्रभावित नहीं हो सकता। वस्तुतः प्रधानमंत्री को पाकी राष्ट्राध्यक्ष को बता देना चाहिए था कि वे इस विषय में असहाय हैं। संविधान में संशोधन कर उसकी भावना को तोड़ने-मरोड़ने के प्रयास की अपेक्षा यदि प्रधानमंत्री ने वैसा किया होता तो उससे विश्व की आँखों में एक जनतांत्रिक नेता और सांविधानिक ढंग की सरकार के पुरस्कर्ता के रूप में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी होती। यह प्रकरण यहीं समाप्त हो जाना चाहिए। यदि इस कारण पाकिस्तान संधि को रद्द कर देता है, तो हमारी कोई क्षति नहीं होने वाली है।

यदि प्रधानमंत्री संविधान में संशोधन पर जोर भी देते हैं, तो यह विषय इतना महत्त्वपूर्ण और संवेदनशील है कि विधेयक पर उन्मुक्त मतदान होना चाहिए। पहले, भाषा के प्रश्न पर उन्मुक्त मतदान किया जा चुका है। यह प्रश्न भाषा-प्रश्न से अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु कांग्रेस पार्टी सचेतक (व्हिप) जारी कर चुकी है। यदि

संसद् के कांग्रेसी सदस्य प्रतिष्ठा और निष्ठा (वफादारी) की मिथ्या भावना का शिकार बनने के बदले 'व्हिप' की उपेक्षा करें और अपनी अंतश्चेतना के अनुसार मतदान करें तो जनता की आँखों में उनकी प्रतिष्ठा बहुत ऊँची हो जायेगी। भारत की प्रतिष्ठा अपनी अखंडता सुरक्षित रखने में है, न कि उसे खण्ड-खण्ड करने में। विधेयक के विरुद्ध मत देकर वे विश्व को यह दिखा देंगे कि जनता और उसके प्रतिनिधि अपनी मातृभूमि की इंच-इंच भूमि को जी-जान से प्यार करते हैं। वह हमारी राष्ट्रीयता का प्रकटीकरण होगा। वह एक काम ही आक्रामक फौजों को काफी दूर रखेगा और राष्ट्र के शत्रुओं की बुरी इच्छा को विफल बना देगा। और यदि सदस्यगण विधेयक के पक्ष में मतदान करते हैं तो वे एक स्वतन्त्र, जनतांत्रिक और सार्वभौम जनता का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार खो देंगे।

एक व्यक्ति की इच्छा की अपेक्षा हमें जनता की इच्छा का सम्मान करना चाहिए। विधेयक पर होने वाले मतदान से यह प्रकट हो जायेगा कि अत्यधिक बहुमतवाली कांग्रेस-पार्टीयुक्त संसद् के हाथों में भारत का भविष्य सुरक्षित रह सकेगा या नहीं। प्रत्येक माननीय सदस्य का व्यक्तित्व कसौटी पर है। अब देखना यह है कि क्या वे उस कसौटी पर खरे उतरते हैं।

भारत और रानी

नयी दिल्ली को अब तक कई बार अन्य देशों के प्रधानों का स्वागत करने का अवसर मिल चुका है। रानी एलिजाबेथ द्वितीय (Queen Elizabeth II) इस शृंखला में प्रथम नहीं हैं। अमरीकी राष्ट्रपति श्री आइजनहावर और सोवियत रूस के प्रधानमंत्री मार्शल बुलगानिन और श्री वोरोशिलोव भी अपने-अपने कार्यकाल में यहाँ आ चुके हैं। उनका स्वागत भव्यता से किया गया। रानी के और भी अधिक भव्य स्वागत का प्रबन्ध किया गया है। यदि इसके पीछे केवल यह सामान्य इच्छा रहती कि हर अगला कार्यक्रम पिछले कार्यक्रम से बढ़कर हो तो शायद ही किसी को कोई आपत्ति होती, बल्कि इसको पसंद ही किया जाता। इसे भुलाया नहीं जा सकता कि एलिजाबेथ द्वितीय केवल एक देश की प्रधान ही नहीं हैं, बल्कि रानी भी हैं। चाहे उन्हें कितना भी सादगी-पसन्द बताया जाय और माना जाय, पर वे अन्य देशों के प्रधानों, विशेषकर जनतांत्रिक देशों के प्रधानों की तुलना में अधिक तड़क-भड़क की अभ्यस्त हैं। इस तथ्य के कारण कि वे एक महिला भी हैं, स्वागत की अधिक गरिमामय तैयारी की अपेक्षा की जाती है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रानी के प्रति भारत सरकार का व्यवहार कुछ अन्य बातों पर आधारित है।

रानी एलिजाबेथ केवल इंग्लैण्ड की रानी नहीं हैं, बल्कि राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) की प्रधान भी हैं। भारत राष्ट्रमण्डल का एक सदस्य है। इसलिए रानी का स्वागत उनके पद के अनुरूप करना पड़ा है। पर एक प्रासंगिक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राष्ट्रमण्डल के सदस्य के रूप में भारत और ग्रेट ब्रिटेन के ठीक-ठीक सम्बन्ध क्या हैं? यह प्रश्न ही वह आधार है, जिस पर यह निर्णय करना संभव हो सकेगा कि इस प्रकार के 'उपयुक्त स्वागत' की वाध्यता क्या है।

राष्ट्रमण्डल की कोई ठीक-ठीक परिभाषा उपलब्ध नहीं है। सांविधानिकतया इसकी धारणा अस्पष्ट है। भारत के गणतंत्र बनने और राष्टमण्डल की सदस्यता स्वीकार करने के पूर्व इस धारणा की व्याख्या १९२६ की बालफोर-घोषणा द्वारा इस प्रकार की जाती थी :

"वे (राष्ट्रमण्डल के सदस्य) ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वायत्तता-प्राप्त देश हैं, समान प्रतिष्ठा-प्राप्त हैं, और आन्तरिक विषयों में एवं विदेशों के साथ सम्बन्ध के बारे में एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं, यद्यपि वे ब्रिटिश ताज के प्रति सामान्य राजभक्ति

के भाव से बँधे हुए हैं और ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्यों के रूप में एक-दूसरे से उन्मुक्त भाव से संयुक्त हैं।"

जब कांग्रेस ने रावी के तट पर पूर्ण स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा ली थी, तब वह भावना अस्वीकार्य थी। यह समानता की नहीं, परतंत्रता की संयुति थी। इसमें सन्देह नहीं कि आज का राष्ट्रमण्डल उससे अलग है। पूर्वोक्त घोषणा में 'स्वावत्त' के स्थान पर 'स्वतन्त्र' शब्द कर दिया गया है और 'ब्रिटिश' तथा 'राजभक्ति' शब्द हटा दिये गये हैं ब्रिटिश ताज को राष्ट्रमण्डल का प्रधान स्वीकार किया गया है, किन्तु ऐसा केवल उसके सदस्यों की 'समान संयुति' के प्रतीक के रूप में किया गया है।

डा. राधाकृष्णन ने राष्ट्रमण्डल की व्याख्या करते हुए इसे एक "स्वतंत्र और अनौपचारिक संयुति" बताया है, जो निर्भरता की नहीं आदर्शों की भागीदारी, निष्ठाओं की नहीं लक्ष्यों की भागीदारी है, और जहाँ संयुक्त विचार-विमर्श के द्वारा ऐसे निर्णय किये जा सकते हैं जिनसे समस्याओं को भली-भाँति समझा जा सकता है, परन्तु जिनसे सदस्य राष्ट्रों की स्वतन्त्रता सीमित नहीं हो सकेगी।

किन्तु रानी की यात्रा, और विशेषकर इस अवसर पर सरकार द्वारा जिस राजकीय शान-शौकत का पालन किया गया, उसे देखकर हम लोगों को इस बात पर पुनर्विचार करने को विवश होना पड़ रहा है कि क्या यह नया सम्बन्ध पुराने सम्बन्ध से मूल रूप से अलग है? 'गणतंत्र दिवस परेड' के अवसर पर राष्ट्रपति की राजकीय यात्रा में वे उनके साथ बनी रहीं। राष्ट्रपति-भवन के ऊपर रानी का झण्डा राष्ट्रपति के झण्डे के साथ फहराता रहा। किन्तु जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, क्या राष्ट्रमण्डल का प्रधान हमारे राष्ट्रपति से श्रेष्ठ या उनके समकक्ष है?

चाहे जितनी बार, चाहे जितना भव्य स्वागत करने की इच्छा हो, रानी का स्वागत होने दें परन्तु हमारे गणतंत्र-दिवस के समारोहों में राष्ट्रपति के साथ-साथ रानी का भाग लेना निश्चय ही हमारे गणतंत्र और हमारी स्वतंत्र स्थिति का न्यूनीकरण है। रानी के प्रति हमारे आदर और प्रेम की अभिव्यक्ति के अनेकानेक मार्ग हैं, किन्तु हम उन्हें कदापि वह स्थान नहीं दे सकते जो भारतीय गणतंत्र के केवल प्रथम नागरिक का है। यदि हम वैसा करते हैं तब राष्ट्रमण्डल के साथ हमारा सम्बन्ध समानता का नहीं, बल्कि दासता का है। ऐसी स्थिति हमारी सार्वभौमता के विपरीत है। इसे बदलना पड़ेगा।

(६ फरवरी १९६१)

राष्ट्रमण्डल पर कुछ विचार

राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमंत्री (पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहित) मिले, विचार-विमर्श किये और बिखर गये। उन लोगों ने कोई निर्णय नहीं लिया, क्योंकि निर्णय लेना राष्ट्रमण्डल की प्रकृति में है ही नहीं। सम्मेलन के अंत में निर्गत विज्ञप्ति में राष्ट्रमण्डल को "अपनी-अपनी नीतियों के लिए उत्तरदायी, स्वतन्त्र, सार्वभौम देशों की एक संयुति" बताया गया है। इसलिए वे शायद ही कोई ऐसा निर्णय ले सकते हैं जो उसके सभी सदस्यों या किसी एक सदस्य के लिए बंधनकारक हो। तब राष्ट्रमण्डल का उद्देश्य क्या है? यदि राष्ट्रमंडलीय देशों की संयुति का कोई सामान्य आधार नहीं है या सामान्य रूप से सहमति-प्राप्त किन्हीं सिद्धान्तों के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं है, तो इन देशों में रहने वाली कोटि-कोटि जनता ऐसे सम्बन्ध को बनाये रखने के लिए प्रेरित नहीं हो सकती जिसके साथ कष्टमय अतीत की केवल दुःखद स्मृतियाँ संलग्न हैं और जिसके साथ उज्ज्वल एवं सुखद भविष्य के लिए कोई भावना या महत्त्वाकांक्षा नहीं जुड़ी है।

इंग्लैण्ड की रानी को राष्ट्रमण्डल के स्वतंत्र सदस्य राष्ट्रों की मुक्त संयुति का प्रतीक, अतः राष्ट्रमण्डल का प्रधान मान्य किया गया है। किन्तु राष्ट्रमण्डल के अधिकांश सदस्यों में रानी के प्रति भावनात्मक अनुराग नहीं है। वे सम्राटशाही को, उसका रूप चाहे जो हो, प्रतिगामी मानते हैं और इसलिए उन्होंने गणतांत्रिक ढंग की सांविधानिक सरकार अंगीकार की है। यदि उन देशों ने अतीत की स्मृतियों और वर्तमान विश्वासों के बावजूद रानी को राष्ट्रमण्डल का प्रधान स्वीकार किया है तो इस संयुति को अवश्य ही कुछ लाभकारी एवं उन्नतिकारक उद्देश्यों की पूर्ति करनी ही चाहिए।

जब पहले-पहल राष्ट्रमण्डल का गठन हुआ तब ऐसा अनुभव किया गया कि सभी सदस्य देशों का संसदीय जनतंत्र में विश्वास रहना चाहिए, और यह कि उनकी अनवरत संयुति से कई अन्य सामान्य आधार निकल आयेंगे। किन्तु गत १२ वर्षों में यह आशा पूरी नहीं हुई है। पाकिस्तान ने जनतंत्र को सलाम कर लिया है और सैनिक तानाशाही अपना ली है। राष्ट्रमण्डल ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया और पाकिस्तान राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना हुआ है। हाल के सम्मेलन में पाकिस्तान का

प्रतिनिधित्व उस देश के प्रधान, राष्ट्राध्यक्ष ने किया, जबकि अन्य देशों का प्रतिनिधित्व प्रधानमंत्रियों ने किया। आर्थिक विषयों में भी पाकिस्तान ने अन्य सदस्य देशों के साथ कदम मिलाकर चलने से इन्कार कर दिया है। जबकि राष्ट्रमण्डल के अन्य सभी देशों ने स्टर्लिंग आरक्षित निधि में गिरावट के संकट का सामना करने के लिए अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया, पाकिस्तान ने वैसा करना अस्वीकार कर दिया।

राष्ट्रमण्डल सभी सदस्य देशों में अपने नागरिकों को समान अधिकार देने में भी समर्थ नहीं रहा है। राष्ट्रीय दृष्टि से किसी राष्ट्रमण्डलीय देश के नागरिक के साथ दूसरे राष्ट्रमण्डलीय देश में बाहरी व्यक्ति के रूप में व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए, परन्तु व्यवहार में, और प्रायः कानून में भी, भिन्न-भिन्न देशों के नागरिकों के साथ भिन्न-भिन्न बर्ताव चल रहा है। पाकिस्तान में भारतीय नागरिकों के साथ अन्य राष्ट्रमण्डलीय देशों के नागरिकों के समान बर्ताव नहीं किया जाता। साथ ही, ब्रिटिश नागरिकों को हर स्थान पर सुविधाएँ प्राप्त हैं, जो अन्य देशों के नागरिकों को उपलब्ध नहीं हैं।

रंगभेद जातीय भेदभाव का एक ज्वलन्त उदाहरण है। इस प्रश्न पर औपचारिक रूप से चर्चा करने से इन्कार करके राष्ट्रमण्डल के सदस्यों ने उन लोगों को निराश कर दिया है जो राष्ट्रमण्डल में मनुष्यों और राष्ट्रों की वास्तविक 'मुक्त संयुति' की आशा रखते आ रहे थे। उन लोगों ने यह प्रकट कर दिया है कि राष्ट्रमण्डल किसी आदर्श का प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि वह केवल ऐसे लोगों का एक उद्देश्यहीन सम्मेलन है जो स्वभाव से ब्रिटिश सम्राट् के सम्मोहक प्रभाव से अलग नहीं हो सकते।

विज्ञप्ति के निम्नांकित अंश से तो ऐसा आभास मिलता है कि राष्ट्रमण्डल का कुछ आदर्श भी है। उसमें कहा गया है कि " सबका मुख्य उद्देश्य विश्वशांति और सुरक्षा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी शक्ति भर कुछ भी न उठा रखना और उसके लिए विश्व के सभी शान्तिप्रेमी राष्ट्रों को सहयोग देते रहना हमारा घोषित उद्देश्य है।" यह सब सुनने में अच्छा लगता है, किन्तु इसमें कोई सार नहीं है। विश्वशांति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिए अभी तक राष्ट्रमण्डल ने कौन-से ठोस कदम उठाये हैं? इसने एक सदस्य राष्ट्र द्वारा दूसरे सदस्य राष्ट्र पर किये गये आक्रमण को समाप्त करने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की, और न इसने

एक सदस्य राष्ट्र के विरुद्ध किसी गैरसदस्य राष्ट्र द्वारा किये गये आक्रमण के प्रतिकार के लिए कुछ किया है। पाकिस्तान कश्मीर में आक्रामक के रूप में बना हुआ है। राष्ट्रमण्डल के देशों ने वहाँ से हटने के लिए उस पर नैतिक दबाव तक नहीं डाला। चीनी आक्रमण के प्रश्न पर सम्मेलन में विचार नहीं किया गया। यह सच है कि भारत के प्रधानमंत्री ने इस प्रश्न को वहाँ नहीं उठाया, किन्तु क्या यह देखना सदस्य राष्ट्रों का नैतिक उत्तरदायित्व नहीं है कि कोई देश किसी सदस्य देश को हानि न पहुँचा पाये? शायद बिना माँगे सहायता देने का प्रस्ताव हमारी सार्वभौमता में हस्तक्षेप माना जा सकता है, पर वे आक्रमण के लिए चीन की निन्दा तो कर ही सकते थे। भारत के लिए यह आवश्यक नहीं होना चाहिए कि वह लद्दाख में चीन को आक्रामक घोषित कराने के लिए अपने मित्रों की सेवा में याचक के रूप में उपस्थित हो। और, यह बहाना नहीं किया जा सकता कि उन्होंने इस प्रश्न पर भारतीय प्रधानमंत्री के अनुरोध पर चुप्पी साधे रखी।

सम्मेलन में आर्थिक प्रश्नों पर भी विचार हुए, पर ऐसी बातों पर भी, जिनसे उन सबका सम्बन्ध था, कोई स्पष्ट नीति-निर्णय नहीं किये गये। यूरोपीय साझा बाजार (The European Common Market) सभी राष्ट्रमण्डलीय देशों के निर्यात-व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला है, पर सिवाय इसके कि इस स्थिति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए यह आशा व्यक्त की गयी कि यूरोपीय देश 'गाट' (GATT) के सिद्धान्तों का अनुसरण करेंगे, इस समस्या का सामना करने की दृष्टि से संयुक्त कार्यवाही करने की कोई योजना नहीं बनायी गयी। जहाँ तक एशिया और अफ्रीका के अल्पविकसित सदस्य देशों के विकास-कार्य में सहायता का प्रश्न है, उस दायित्व का परित्याग कर दिया गया है और उसे राष्ट्रमण्डलीय आर्थिक परामर्शदात्री समिति (Commonwealth Economic Consultative Committee) और अधिकारियों पर टाल दिया गया है। इस विषय में केवल इतना किया गया है कि सदस्य राष्ट्र विशिष्ट कौशल एवं अनुभव के आदान-प्रदान पर सहमत हो गये, और इसका अर्थ केवल इतना ही होगा कि राष्ट्रमण्डलीय देशों में कुछ और ब्रिटिश इंजीनियरों और तकनीशियनों को रोजगार मिल जायेगा।

जब तक राष्ट्रमण्डल व्यावहारिक समस्याओं तथा वास्तविक प्रश्नों को प्रभावकारी ढंग से सुलझाने के उपाय नहीं निकाल सकता, तब तक वह अन्तरराष्ट्रीय

सहयोग के लिए उपयोगी माध्यम नहीं बन सकेगा। राष्ट्रमण्डल को यह दिखाना पड़ेगा कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के विभिन्न अभिकरणों (एजेन्सियों) की अपेक्षा कुछ अधिक और ठोस फल प्रदान कर सकता है। यदि वह ऐसा नहीं कर सकता, तो वह ब्रिटेन और विभिन्न नवस्वतन्त्र देशों की जनता को ठगनेवाला ब्रिटिश साम्राज्य का केवल एक प्रदर्शन-कक्ष बनकर रह जायेगा। यह एक गल्प से अधिक कुछ नहीं होगा—एक ऐसा गल्प, जिसका निर्माण ऐसे देशों की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की कीमत पर हुआ है जिन्होंने अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया और तब उसे प्राप्त किया। राष्ट्रमण्डल का एक अतीत भी है, और हम सभी उसे भूल जाना चाहते हैं। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब यह "स्वतंत्र सार्वभौम राष्ट्रों की मुक्त संयुति" अपने लिए एक भविष्य का निर्माण करे।

(२३ मई, १९६०)

भारत, नेपाल और जनतंत्र

१५ दिसम्बर को नेपाल के महाराजा ने संसद् को भंग कर दिया और सारे अधिकार अपने हाथ में ले लिये। प्रधानमंत्री विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला तथा अन्य मंत्री उसी दिन गिरफ्तार कर लिये गये। बाद में अधिकांश अन्य राजनीतिक नेता भी पकड़ लिये गये और उस देश में सभी राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। बताया जाता है कि कम्यूनिस्ट भूमिगत हो गये हैं और पुलिस उन्हें सर्वत्र ढूँढ़ रही है।

महाराजा द्वारा की गयी कार्यवाही इतनी सुनियोजित थी कि नेपाल के अंदर और बाहर, प्रायः सभी यह समाचार सुनकर स्तम्भित रह गये। नेपाल-स्थित भारतीय राजदूत, जनरल थिमैया के साथ 'शिकार' के लिए काठमाण्डू से बाहर चले गये थे। नेपाली स्थलसेना के कमाण्डर-इन-चीफ ने, जो पहले 'शिकार' पर उनके साथ जानेवाले थे, अंतिम क्षण में अपनी शिकार-यात्रा स्थगित कर दी। किन्तु भारतीय राजदूत को ऐसी तनिक-सी शंका नहीं हुई कि दाल में कुछ काला है। बातूनी और खुली परराष्ट्र-नीति की अपनी परम्परा के अनुरूप, अन्य लोगों के मामले में हस्तक्षेप करना उनका काम भी नहीं था। अन्य देशों के राजदूतों की स्थिति भी इस विषय में इससे कुछ अच्छी नहीं थी। शायद उन्हें पूरे घटनाचक्र के बारे में कुछ गंध लगी भी हो, तो भी कम से कम उनके परराष्ट्र-मंत्री तथा स्वयं वे भी, इसके बारे में बिल्कुल चुप्पी साधे रहे। किसी अति असाधारण प्रकरण में पूर्वज्ञान रखने की डींग हाँकने की अपेक्षा (किन्तु जिसका दावा सब करते हैं) वे अजानकार कहला लेना अधिक पसन्द करते हैं।

सभी राजनीतिक मतों के लोगों की गिरफ्तारी, सभी राजनीतिक गतिविधियों पर पूर्ण पाबन्दी लग जाने और किसी भी अन्य राष्ट्र को घटनाओं की पूर्व जानकारी न होने से महाराजा द्वारा की गयी कार्यवाही के कारणों पर रहस्य का पर्दा पड़ा हुआ है। अधिकृत घोषणाओं से मिले आभास के अतिरिक्त इसकी कोई जानकारी नहीं है कि किस कारण महाराजा ने इतना उग्र कदम उठाया। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसमें किसी अन्य देश का हाथ नहीं रहा। यह कहना बहुत जल्दबाजी होगी कि महाराजा की कार्यवाही का उद्देश्य किन्हीं विदेशी शक्तियों द्वारा

हस्तक्षेप के प्रयास को विफल बना देना था। फिर भी, यदि कोइराला सरकार किसी अन्य शक्ति के संकेतों पर कार्य करती होती, तो मंत्रिमण्डल के निष्कासन और गिरफ्तारी के बाद उन क्षेत्रों में कुछ प्रतिक्रिया भी हुई होती। नेपाल के कम्यूनिस्टों एवं अन्य दलों की प्रतिक्रिया भी पर्याप्त नरम रही। या तो वे आतंक से त्रस्त हैं या वे ऐसा अनुभव नहीं करते कि उनका विशेष रूप से दमन किया जा रहा है। सबका भाग्य एक ही है और कोई भी स्थिति के बारे में विशेष रूप से अधिक प्रपीड़ित नहीं अनुभव करता।

फिर भी, सभी राजनीतिक दलों के दमन के कारण नेपाल के बाहर ऐसी भावना बनी है कि किसी एक व्यक्ति या एक गुट की त्रुटियों के कारण महाराजा ने इस प्रकार का कठोर कदम नहीं उठाया है, बल्कि वे नेपाल में जनतांत्रिक सरकार को समाप्त कर देने की इच्छा से प्रेरित हैं। तथापि हम यह नहीं भूल सकते कि यह महाराजा ही थे जिन्होंने संविधान बनवाया और एक निर्वाचित सरकार की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया था। अतः यदि इस समय उन्होंने ऐसा असाधारण पग उठाने का निर्णय किया है तो उसके पीछे पूर्ण राजशाही की स्थापना की आवेगमयी इच्छा की अपेक्षा निश्चित रूप से कोई गंभीर कारण होना ही चाहिए। हम यह नहीं भूल सकते कि अब तक नेपाल में आधे दर्जन से अधिक प्रधानमंत्री हो चुके और उस देश के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने बारी-बारी से उस पद का भार संभाला है। श्री वी.पी. कोइराला की पदच्युति के बाद कोई ऐसा दूसरा प्रधानमंत्री खोज निकालना सरल नहीं था, जिसे संसद् का विश्वास भी प्राप्त हो। इन परिस्थितियों में शायद महाराजा के सामने कोई दूसरा विकल्प नहीं रहा हो।

उक्त घटनाओं पर जनतंत्र से प्रेम करने वाले किसी भी व्यक्ति की प्रथम प्रतिक्रिया खेदाभिव्यक्ति की ही होगी, किन्तु इस स्तर पर इस खेदजनक कदम के लिए किसी को उत्तरदायी ठहराना न तो संभव है और न उसमें राजनीतिज्ञता है। यह कहना कठिन है कि महाराजा ने यह पग अपनी व्यक्तिगत इच्छा को फलीभूत करने के लिए उठाया या देश और देश की जनता के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने की दृष्टि से। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, नेपाल के साथ घनिष्ठ मैत्री के सम्बन्ध हैं, और हम व्यक्तियों से या किसी विशेष प्रकार की सरकार से नहीं बँधे हैं। इस सम्बन्ध में निर्णय करना नेपाल की जनता का कार्य है। जब तक नेपाल भी हमारे साथ मित्रता के भाव बनाये रखता है, तब तक हम नेपाल की सभी सरकारों के

साथ मित्रता के सम्बन्ध जारी रख सकते हैं।

परराष्ट्र-सम्बन्धों पर बहस के समय राज्यसभा में प्रधानमंत्री ने जो मंतव्य व्यक्त किये, वे सुखद नहीं हैं। हमें कोइराला सरकार की नीतियों और कार्यों का समर्थन करने का प्रयत्न क्यों करना चाहिए? सबसे बड़ी बात यह कि हम अन्य देशों के साथ सिद्धान्तों या कार्यक्रमों के आधार पर अपने सम्बन्ध नहीं निरूपित करते। जनतांत्रिक देशों के साथ भी हमारे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हैं और तानाशाही देशों के साथ भी। पाकिस्तान में संविधान का मूलोच्छेद होने पर हम चिंतित नहीं होते, और न बर्मा या मिस्र में सैनिक क्रान्ति होने पर ही हम चिन्तित होते हैं। कोई ऐसी सरकार, जो 'गणतंत्र-दिवस' के अवसर पर एक सम्राज्ञी के प्रति देश की राजभक्ति प्रकट करने की योजना बना रही हो, सैद्धान्तिक आधार पर एक राजा द्वारा की गयी कार्यवाही को कैसे नापसन्द कर सकती है? नेपाल के प्रति हमारी हार्दिक सद्भावना है, और नेपाल के राजा को भारत सरकार और भारतीय जनता का प्रेम और आदर मिलते रहना चाहिए।

(२६ दिसम्बर, १९६०)

संस्कृतनिष्ठ हिन्दी क्यों?

राजभाषा आयोग (Official Language Commission) के प्रतिवेदन (report) पर लोकसभा में हुई परिचर्चा से आभास मिलता है कि भारत के सरकारी कामकाज तथा अन्तरराज्य-संपर्क के लिए एक देशी भाषा को अन्ततः स्वीकार करने के बारे में सर्वसहमति है। चूँकि, जैसा कि संविधान द्वारा स्वीकृत है, केवल हिन्दी ही वह भाषा हो सकती है, अतः इसके बारे में भी किसी ने शंका व्यक्त नहीं की। यह तर्क कि अंग्रेजी भाषा भी उतनी ही भारतीय है जितनी उर्दू या संस्कृत, गणतंत्र परिषद् के श्री सुरेन्द्र मोहन्ती के अतिरिक्त अन्य किसी ने नहीं रखा। उनका उक्त तर्क गणतंत्र परिषद् के भूतपूर्व अध्यक्ष और संसदीय आयोग में परिषद् के मनोनीत सदस्य स्वर्गीय प्रवीरचन्द्र भंजदेव के मत के बिल्कुल विपरीत है, जिन्होंने रिपोर्ट में मतविभेद का 'नोट' भी लिखकर जोड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री मोहन्ती ने अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण व्यक्त किया है।

किन्तु जब हम उन उपायों के बारे में और उनकी गति के बारे में विचार करते हैं, जिससे वह अंतिम उद्देश्य पूरा किया जानेवाला है, तो उनके विषय में भारी मतभेद दिखाई पड़ते हैं। विवरणों के बारे में इस प्रकार का मतभेद अवश्यम्भावी भी है। फिर भी, यदि उद्देश्य की पूर्ति करने की हमारी अभिलाषा है, तो इस साझे उद्देश्य की प्राप्ति(उपलब्धि)के विविध पहलुओं को ये विभिन्न उपाय और साधन बल ही प्रदान करेंगे। किन्तु आवश्यक यह है कि हम बिना किसी पक्षपात या उलझन के इस कार्य में जुट जावें। यह सच है कि कुछ समय से कुछ अहिन्दीभाषी लोगों में इस प्रकार की कुछ आशंका पैदा हुई है कि यदि हिन्दी आ गयी तो अखिल भारतीय सेवाओं आदि में उनकी भरती के अवसर कम हो जायेंगे। मैं समझता हूँ कि इस सम्बन्ध में प्रधानमंत्री के आश्वासनों से इस प्रकार की आशंकाएँ एवं उद्विग्नताएँ समाप्त हो जानी चाहिए। वस्तुतः जहाँ तक अखिल भारतीय सेवाओं में भरती का प्रश्न है, कभी भी हिन्दी के ज्ञान को आवश्यक नहीं माना जाना चाहिए। किन्तु भरती के बाद कर्मचारियों को हिन्दी का कामचलाऊ ज्ञान करा देने की व्यवस्था की जानी चाहिए। प्रतिस्पर्द्धात्मक परीक्षाएँ क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से ली जानी चाहिए। नियमन की कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है।

यदि एक बार भावी नियुक्तियों के बारे में चिन्ता दूर कर दी जाय तो हिन्दी को व्यवहृत करने का कोई विरोध नहीं होगा। तब इसके व्यवहृत किये जाने की गति और पद्धति का प्रश्न नीति या सिद्धान्त की अपेक्षा व्यावहारिक कार्यचालन से सम्बन्धित होगा। यही वह व्यावहारिक पहलू था, जिसके कारण संविधान-सभा ने अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को अविलम्ब चालू कर देने के बदले १५ वर्ष का समय देने की व्यवस्था की थी। यदि वह तिथि बीत जाने के बाद भी कुछ विशिष्ट कठिनाइयाँ हों तो संसद् को कतिपय कार्यों के लिए अंग्रेजी को चालू रखने का अधिकार दिया गया है। हिन्दी के तथाकथित कट्टर समर्थकों ने इन धाराओं को समाप्त करने की कभी माँग नहीं की है। उन्होंने यदि किसी के विरुद्ध आवाज उठायी तो वह था केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय, जो मरहूम मौलाना अबुल कलाम आजाद के मार्गदर्शन में इन सांविधानिक व्यवस्थाओं की उपेक्षा कर देने का प्रयत्न कर रहा था। नये पारिभाषिक शब्द तैयार करने की दिशा में काफी काम हुआ है और विभिन्न विद्वानों तथा राज्य सरकारों द्वारा अब भी काम चल रहा है। उनके कार्य में समन्वय की आवश्यकता है। समन्वय के अभाव में एक ही अंग्रेजी शब्द के लिए भिन्न-भिन्न हिन्दी शब्द प्रयुक्त किये जा रहे हैं। बम्बई और उत्तरप्रदेश में दो नागरी लिपियाँ प्रचलित हैं। इन सबसे किंकर्तव्यविमूढ़ता बढ़ती है। इसके कारण हिन्दी जानने वाले लोगों के लिए भी हिन्दी गुह्य बन जाती है।

यह स्पष्ट है कि अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को अपनाने की दिशा में राज्यों द्वारा की जा रही प्रगति को हम रोक देने के लिए नहीं कह सकते। अहिन्दीभाषी राज्यों के सामने तो यह कठिनाई है ही नहीं। अहिंदीभाषी क्षेत्रों में प्रत्येक क्षेत्रीय भाषा का केवल एक राज्य है। इसलिए वहाँ एक, दो या अधिक राज्यों के स्वभाषा-सम्बन्धी कार्यों के बीच समन्वय लाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु, जहाँ तक हिन्दी-राज्यों का सम्बन्ध है, समन्वय अवश्यकरणीय है। साथ ही, हिन्दी के अखिल भारतीय भाषा होने के कारण उसे अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की शब्दमाला को भी ध्यान में रखना है। यह केवल तभी संभव है, जब हम सभी भारतीय भाषाओं के लिए सामान्य पारिभाषिक शब्द निर्धारित करने के लिए एक केन्द्रीय समिति रखें। इस सीधी-सादी बात के लिए हम लोग अनेक वर्षों से प्रतीक्षा करते आ रहे हैं। केन्द्र सरकार इसे सरलता से कर सकती थी। आयोग (Commission) ने भी इसके लिए संस्तुति की है। किन्तु हम नहीं जानते कि सरकार इस संस्तुति को क्रियान्वित

करेगी या नहीं।

भारी किंकर्तव्यविमूढ़ता व्याप्त है, और ऐसा प्रतीत होता है कि इस दृष्टि से प्रधानमंत्री सबसे अधिक किंकर्तव्यविमूढ़ व्यक्ति हैं। उनका मत है कि नये प्राविधिक (तकनीकी) शब्द तैयार नहीं किये जाने चाहिए और न गढ़े जाने चाहिए, बल्कि उन्हें क्रमिक रूप से विकसित होना चाहिए। उन्होंने लोकसभा में अपने वक्तव्य में ऐसा ही कहा। "हिन्दी शब्द तैयार करने और अनुवाद का 'स्लाट मशीन' जैसा काम बनावटी, हवाई, बेतुका, बेढंगा और हँसी कराने का उपाय है। ऐसा उपाय अपनाकर आदमी अपने को एक लोहे के ढाँचे में जकड़ लेगा और कुछ 'श्लोक' बोल देने से ज्यादा कुछ नहीं कर सकेगा।" स्पष्ट ही उनका प्रहार संस्कृत भाषा और संस्कृत विद्वानों पर है। वे संस्कृत नहीं चाहते। यदि हम संस्कृत का परित्याग कर दें तो सभी क्षेत्रीय भाषाओं के लिए नये पारिभाषिक शब्द तैयार करने का सामान्य आधार क्या होगा? आज अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्द प्रचलित हैं। यदि हम उन्हें ही चलाते रहें तो उनके 'स्थान-ग्रहण' का प्रश्न ही नहीं उठता। उसका अर्थ केवल कुछ सर्वनामों और क्रियाओं को बदल देना होगा, जैसा कि मुगलों ने फारसी से उर्दू का विकास करते समय किया था। फारसीकृत हिन्दी उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकेगी, और अंग्रेजीकृत हिन्दी भी नहीं कर सकेगी। अर्द्धशिक्षित नागरनिवासी उस भाषा में बातचीत कर सकते हैं, परन्तु उनका सरकारी या साहित्यिक कार्यों के लिए प्रयोग नहीं हो सकता।

यह सच है कि अनेक विदेशी शब्द हमारी भाषाओं के पूर्णतः अंग बन गये हैं। उनके प्रयोग पर प्रतिबंध लगाना कोई नहीं चाहता। किन्तु उनका उपयोग केवल सामान्य बातचीत में या हल्की-फुल्की साहित्यिक रचनाओं में हो सकता है। विधि-विषयक और विज्ञान-विषयक पुस्तकों के लिए हमें वैज्ञानिक आधार पर निर्मित पारिभाषिक शब्दकोष चाहिए ही। हम 'जज' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, पर 'जुडिशियरी', 'जुडिशियल', 'जजमेण्ट', 'जजशिप', 'जुडिकेचर', 'जुडिशस', 'ऐड्जज', 'ऐड्जुडिकेशन', 'प्रिजज', 'प्रिजुडिस', 'जस्टिस', 'जस्टिशिएबल', 'जस्टिशियरी', 'जस्टिफाई', 'जस्टिफिकेशन', 'जस्टिफिकेटरी', 'जस्टिफाएबिलिटी', 'जस्टिफिकेटिव', 'ज्यूरी', 'ज्यूरर', 'जुरिस्डिक्शन', 'ज्युरिडिकल', ज्यूरिस्ट', 'ज्युरिस्प्रुडेंस', आदि शब्दों का, जो एक ही शब्दमूल से निकले परस्पर-सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द हैं, हम प्रयोग नहीं कर सकते। यदि आप सरकारी

कामकाज, विधायी कार्य और प्रशासनिक कार्य के लिए हिन्दी का प्रयोग करना चाहते हैं, तो आपको न्यायपालिका विषयक कार्यों में उपर्युक्त सारे शब्दों का व्यवहार करना पड़ेगा। 'जज' एक ऐसा शब्द हो सकता है जिसे लोग सामान्यतः जानते हैं, किन्तु यदि हम उक्त सारे शब्दों का हिन्दी में व्यवहार करें, तो शायद ही किसी की समझ में आवे। यह डा. रघुवीर का कोई दोष नहीं है कि उन्होंने ऐसे सभी परस्पर-सम्बन्धित कार्यों के लिए एक ही संस्कृत मूल 'धातु' से शब्दों की रचना की है। कोई-कोई कुछ शब्दों से असहमत हो सकते हैं, किन्तु जिस किसी व्यक्ति को शब्दकोष के कार्य की कुछ सही कल्पना है, वह इस आधार को गलत नहीं बता सकता। उनका उपहास उड़ाकर प्रधानमंत्री ने उस विषय के प्रति केवल अपनी अज्ञता ही प्रकट की है।

प्रधानमंत्री ने यह भी कहा है कि नये शब्द गढ़े नहीं जाने चाहिए, बल्कि सामान्य जनता से क्रमिक रूप से विकसित होने चाहिए। यह सच है कि सामान्य जनता द्वारा सदा नये शब्द प्रचलन में लाये जाते हैं, और किसी भी अन्य सजीव भाषा की तरह हिन्दी में भी उनका प्राचुर्य है। किन्तु उनमें से अधिकांश उन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकते, जिनकी पूर्ति करना हिन्दी को अभीष्ट है। क्या पण्डित नेहरू 'गवर्नर' को 'राज्यपाल' के बदले 'लाट साहेब' और 'प्रेसिडेण्ट' को 'राष्ट्रपति' के बदले 'बड़ा लाट' के नाम से संबोधित किया जाना पसन्द करेंगे? 'लोकसभा' और 'राज्यसभा' जैसे शब्द, जो अत्यन्त सुपरिचित हो गये हैं, क्रमिक रूप से नहीं विकसित हुए, बल्कि पण्डित नेहरू द्वारा उपहासित 'स्लाट मशीन फार्मूले' द्वारा ही गढ़े गये हैं। प्रारम्भ में ये नाम नये और अपरिचित लगे, किन्तु अब वे भली-भाँति सुपरिचित हो चुके हैं, मानो वे सदा से व्यवहार में चले आ रहे हों। ऐसे बीसियों शब्द हैं जिनका पण्डित नेहरू भी व्यवहार करते हैं और जो सामान्य जनता से नहीं बल्कि डा. रघुवीर एवं अन्य विद्वानों से ही प्राप्त हुए हैं।

भाषा की सरलता के बारे में भी कुछ उलझन है। इस बात से कोई इन्कार नहीं करता कि भाषा सरल होनी चाहिए। किन्तु सरलता का मानदण्ड क्या है? उसे सर्वाधिक जनता की समझ में आना चाहिए। यदि यही हमारा उद्देश्य हो, तो नयी हिन्दी संस्कृतनिष्ठ होनी चाहिए। वह गांधीजी द्वारा बतायी गयी 'हिन्दुस्तानी' नहीं हो सकती। वस्तुतः गांधीजी ने 'हिन्दुस्तानी' की वकालत इसलिए नहीं की थी कि वह सरल है, बल्कि हिन्दी और उर्दू को मिलाकर एक कृत्रिम भाषा के निर्माण द्वारा

केवल मुसलमानों को खुश करने के लिए की थी। किन्तु वह 'हिन्दुस्तानी' न कहीं बोली जाती है और न समझी जाती है। पण्डित नेहरू की हिन्दी विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण में नहीं समझी जाती, और मौलाना आजाद की हिन्दुस्तानी तो उत्तरप्रदेश में भी नहीं समझी जाती थी। जिनकी पढ़ाई उर्दू में हुई है, वे संस्कृत पर आधारित हिन्दी को सदा कठिन बतानेवाले हैं किन्तु देश के बाकी सब लोगों के लिए वह सरल होगी। गत वर्ष पण्डित नेहरू Planetarium के लिए 'कृत्रिम नभोमण्डल' शब्द पर चिढ़ गये थे, किन्तु वे कोई अन्य सरल शब्द नहीं सुझा सके। उनका फारसी का समकक्ष शब्द और भी कठिन होता।

हाल में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने भी एक न्यायिक दण्डाधिकारी (जुडिशियल मजिस्ट्रेट) के निर्णय में कठिन हिन्दी के प्रयुक्त होने की शिकायत की है। इस कठिन हिन्दी के उदाहरण के रूप में 'अन्य पुरुषों के विरुद्ध आरोप हैं' को उद्धृत किया गया था। इस हिन्दी के स्थान पर अभी तक मजिस्ट्रेट लोग 'दीगर अशखास के खिलाफ इल्जाम हैं' लिखते रहे हैं और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश उसे समझते रहे हैं। यदि पूरे देश में, या केवल उत्तरप्रदेश में भी मत लिया जाय तो 'कठिन हिन्दी' को समझने वालों की संख्या बहुत अधिक होगी। यदि हिन्दी को एक अखिल भारतीय भाषा के रूप में विकसित होना है, तो उसका फारसीकरण नहीं किया जा सकता। जो लोग अहिन्दीभाषी जनता पर एक ऐसी भाषा लादने के पक्षपाती हैं जो उनके लिए सर्वथा विदेशी है, तथा जो लोग वर्णसंकर 'हिन्दुस्तानी' के पक्षधर हैं, उन लोगों ने तथाकथित कट्टरपंथी हिन्दीवालों की अपेक्षा हिन्दी को अधिक हानि पहुँचायी है, क्योंकि अहिन्दीभाषी लोगों को इस भाषा के एक-एक शब्द को सीखना पड़ेगा और वह भी उस स्थिति में जबकि उनकी भाषा में उससे मिलते-जुलते शब्द नहीं है। किन्तु प्रांजल संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के बारे में ऐसी बात नहीं है।

(१४ सितम्बर, १९५६)

स्वभाषा और सुभाषा

भारत में अंग्रेजी के समर्थक भले ही पराजयोन्मुख युद्ध लड़ रहे हों, वे देश की भाषा सम्बन्धी आवश्यकता के बारे में भारी किंकर्तव्यविमूढ़ता पैदा करने में अवश्य सफल हो गये हैं। यद्यपि श्री सी. राजगोपालाचारी के अतिरिक्त शायद ही अन्य ऐसा कोई होगा जो फ्रैंक एन्थोनी के इस कथन का समर्थक हो कि अंग्रेजी भी भारत की अन्य भाषाओं के समान ही भारतीय भाषा है, किन्तु ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो अंग्रेजी को बनाये रखना चाहते हैं। वास्तव में वे अपने हिन्दी-विद्वेष से ही प्रेरित हैं। वे हिन्दी के स्थान पर कोई भी अन्य भाषा स्वीकार कर लेंगे। वे हर प्रकार के ऊल-जलूल तर्क देते हैं और अहिन्दीभाषी जनता की भावनाओं के साथ खिलवाड़ करते हैं। वे अपने क्षेत्र की जनता को यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि यदि अंग्रेजी हटा दी गयी तो उनकी अपनी भाषा जीवित नहीं रह सकेगी।

तथ्य यह है कि अंग्रेजी के विरुद्ध लड़ाई 'हिन्दी वालों' की लड़ाई नहीं है। यह वस्तुतः भारत की सभी क्षेत्रीय भाषाओं का एक सम्मिलित लक्ष्य है। यदि अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति का अवलम्बन किया, तो अंग्रेजी के समर्थक उस विदेशी भाषा को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए उसका अवलम्बन कर रहे हैं। यदि अंग्रेजी चली जाती है तो उसका स्थान अकेले हिन्दी ही नहीं ग्रहण करेगी, बल्कि हिन्दी और क्षेत्रीय भाषाएँ संयुक्त रूप से ग्रहण करेंगी। यदि अंग्रेजी बनी रहती है, तो भारत की कोई भाषा पल्लवित नहीं हो सकेगी। क्या वह हिन्दी थी जिसने तमिल या बंगला को या अन्य भाषाओं को उनके सम्बन्धित क्षेत्रों से अपदस्थ किया? कोई ऐसा नहीं सोचता कि केरल में विधानमण्डल और प्रशासन का कार्य मलयालम के बदले हिन्दी में होगा। किन्तु मलयालम तब तक नहीं आ सकती, जब तक अंग्रेजी हट नहीं जाती।

यह सच है कि अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी अंग्रेजी का स्थान लेगी। वह स्थान किसी भी अन्य भारतीय भाषा को दिया जा सकता है, किन्तु सुस्पष्ट कारणों से हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में उपयुक्त माध्यम माना गया। वस्तुतः संविधान स्वीकृत होने के बहुत पहले से ही उसे यह स्थान प्राप्त था। संस्कृत यदि विद्वानों और भद्रपुरुषों की संपर्क-भाषा थी, तो सामान्य लोगों की संपर्क-भाषा हिन्दी थी।

मध्यकाल के साधुओं ने इसका खुलकर और बारम्बार प्रयोग किया। उन लोगों द्वारा रचित अनेक हिन्दी कविताएँ हमें मिलती हैं, यद्यपि उनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी।

हमारे सुदीर्घ स्वातंत्र्य-संघर्ष-काल में हिन्दी अंतर-सम्पर्क का स्वाभाविक माध्यम थी। भूषण ने छत्रपति शिवाजी पर हिन्दी में काव्य-रचना की। गुरु गोविन्द सिंह ने अपने अनुयायियों को हिन्दी में उपदेश दिये। १८५७ में अंग्रेजों को भगा देने की योजना हिन्दी के माध्यम से बनी। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी के माध्यम से ही राष्ट्र का तेजस्विितापूर्ण आह्वान किया। गांधीजी ने अंग्रेजों के विरुद्ध शांतिपूर्ण विद्रोह के निमित्त सन्नद्ध करने की दृष्टि से जनता को उत्साहित करने के लिए हिन्दी को ही उचित माध्यम माना। हमारे स्वातंत्र्य-संघर्ष में भाषा ने उतना ही योगदान किया जितना उसने आयरलैण्ड में किया था।

यदि संविधान में हिन्दी को परम्परागत रूप से सुप्रचलित नाम 'राष्ट्रभाषा' के बदले 'राजभाषा' नाम दिया गया तो उसका उद्देश्य अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के बारे में केवल कुशंकाएँ दूर करना ही था और यह प्रकट करना भी था कि वे सब भी समान रूप से राष्ट्रीय हैं। राष्ट्रीयता एक गुणप्रधान कल्पना है, परिमाणप्रधान नहीं। भू-क्षेत्रीय राष्ट्रवाद के आदर्श पर चलने वालों के लिए इसका गूढ़ार्थ कठिन होगा। ऐसे लोग यह भी नहीं समझ सकते कि भाषाविषयक एवं अन्य प्रसंगों में मंद एकरूपता थोपे बिना भी राष्ट्रीय एकता कैसे अक्षुण्ण रखी जा सकती है। फिर भी, सांविधानिक अभिव्यक्ति ने लोगों को भ्रमित किया है और इस कारण वे यह अनुभव करते हैं कि यदि कोई हिन्दी का विरोध करता है और अंग्रेजी की वकालत करता है तो इससे उसकी राष्ट्रीयता की भावना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी दृष्टि में सरकारी कार्य जागतिक विषय हैं, वे किसी भी भाषा में किये जा सकते हैं, और इसमें हानि ही क्या है यदि अंग्रेजी का प्रयोग चलता रहे। इसके परिणामस्वरूप भाषा के प्रश्न के प्रति उदासीनता की मनोवृत्ति पैदा हुई है। व्यावहारिक कारणों से जो समझौतामूलक कार्यवाही हुई, उससे भी अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को लाने का उत्साह ठण्डा पड़ा। यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि अंग्रेजी हटेगी तो हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना को सन्तुष्ट करने के लिए। इसलिए अंग्रेजी के गुणों और लोगों की रट लगाने से कोई लाभ नहीं है। हम अंग्रेजी शासन को नहीं रख सकते थे, चाहे उससे जो लाभ रहे हों। हमारे स्वातंत्र्य-संग्राम के प्रारम्भिक दिनों में ब्रिटिश-समर्थक तत्त्वों को हमारा यह सामान्य उत्तर होता था कि 'स्वराज्य' (Self-rule) की प्यास को

'सुराज्य' (Good rule) से नहीं बुझाया जा सकता। आज भी 'स्वभाषा' की आवश्यकता की पूर्ति 'सुभाषा' से नहीं हो सकती।

अब फ्रैंक ऐंथोनी के तर्क का एक बार फिर उल्लेख करता हूँ। क्या अंग्रेजी अपनी भाषा है? उनका मत है कि है। पहली बात तो यह कि गत एक सौ पचास वर्षों से इसके प्रयुक्त होते रहने के कारण यह हमारे राष्ट्रजीवन का अंग बन गयी है। जीवन के हर क्षेत्र के नेता अंग्रेजी के माध्यम से प्राप्त सिद्धान्तों को साकार करने का प्रयास करते आ रहे हैं। हमारा चिन्तन अंग्रेजी में चलता है। मूल्यों के बारे में हमारे निष्कर्ष अंग्रेजी से प्राप्त होते हैं। स्थिति के बारे में फ्रैंक ऐंथोनी का अध्ययन सही है। पर इससे अंग्रेजी भारतीय भाषा नहीं बन जाती।

यदि हमारे राष्ट्रीय जीवन का आयोजन और मार्गदर्शन अंग्रेजी में निहित आदर्शों के अनुसार होता है, तो यह हमारी मानसिक दासता का चिह्न है। जितने शीघ्र हम इससे मुक्ति पा लें, उतना ही अच्छा। इन आदर्शों का पालन और उन्नयन कर हम राष्ट्राभिमान नहीं पैदा कर सकते। हम पाश्चात्यों के मार्गों और पद्धतियों का अनुसरण कर केवल उनका मर्कटानुकरण कर सकते हैं, अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं प्रकट कर सकते। जब तक अंग्रेजी चलती रहती है, तब तक हम अपने सांस्कृतिक पुनरुद्धार की जीवनदायिनी मुक्त वायु में साँस नहीं ले सकते। आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान सीधे प्राप्त न कर सकने का जोखिम उठाकर भी हमें विदेशी भाषा के चंगुल से अपने को मुक्त कर लेना चाहिए। अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम की नकल करके हम विश्व को जो कुछ दे सकते हैं, उससे कई गुना अधिक मूल्यवान योगदान हम अपनी भाषाओं के द्वारा दे सकते हैं।

फ्रैंक ऐंथोनी का यह भी तर्क है कि संविधान में अंग्रेजी को स्थान दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह अल्पसंख्यकों की अर्थात् ऐंग्लो-इंडियनों (आंग्ल-भारतीयों) की भाषा है। यदि श्री ऐंथोनी अपने को राष्ट्रीय अनुभव करते हैं तो उन्हें अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के रूप में सोचना बन्द कर देना चाहिए। सच्ची बात यह है कि संसदीय जनतंत्र में ऐसे विभाजन का सीमित प्रयोजन है। हम इसका इतना विस्तार नहीं कर सकते कि यह हमारे सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन को दूषित कर दे। यदि हम ऐसा करने लगें तो श्रेणीकरण के हमारे आधार में परिवर्तन होता जायेगा और अनेक अल्पसंख्यक समुदाय बनते जायेंगे, जिसका परिणाम यह होगा कि प्रत्येक व्यक्ति

किसी न किसी अल्पसंख्यक समाज का सदस्य बन जायेगा। सम्प्रदायाधारित अल्पसंख्यक, भाषाई अल्पसंख्यक, राजनीतिक अल्पसंख्यक, जातीय अल्पसंख्यक, धंधे पर आधारित अल्पसंख्यक आदि अनेक अल्पसंख्यक हो सकते हैं। दूसरे, यदि ऐंग्लो-इंडियन समुदाय अंग्रेजी बोलता आ रहा है, और यदि वह जनता के साथ एकरूप होकर रहना चाहता है, तो उसे उसको छोड़ देना चाहिए। वस्तुतः उनकी गृहभाषा हिन्दी या उनके शब्दों में हिन्दुस्तानी होनी चाहिए। वे अंग्रेजी बोलते हैं तो उसका कारण उनकी शिक्षा है, जिसे वे साधारणतया कान्वेण्ट (अंग्रेजी माध्यम के मिशनरी स्कूलों) में प्राप्त करते हैं। यों तो वहाँ पढ़नेवाले गैर-ऐंग्लो-इंडियन बच्चे भी अंग्रेजी बोलना प्रारम्भ कर देते हैं। यह तो केवल इन स्कूलों का राष्ट्रीयतानाशक प्रभाव है। उनसे यह आदत छोड़कर समाज की गति के साथ चलने के लिए कहने के बदले हम सारी जनता पर एक ऐसी भाषा नहीं लाद सकते, जो उसकी अपनी नहीं है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ऐंग्लो-इंडियन समुदाय विशेष परिस्थितियों में अस्तित्व में आया। ब्रिटिश शासनकाल में उसे सारी सुविधाएँ प्राप्त हुईं। उनमें से कुछ सुविधाओं को भारत छोड़कर जाते ब्रिटिश आकाओं के कहने से संविधान द्वारा दस वर्ष के लिए सुरक्षित रख दिया गया। फ्रैंक ऐंथोनी को इन दस वर्षों की समाप्ति के पूर्व सर्वसाधारण जनता की भाँति रहने के लिए अपने समाज को तैयार करना चाहिए था। एक राष्ट्रविरोधी अभियान चलाना और इस प्रकार पूरे समुदाय की प्रतिष्ठा घटाना उन्हें शोभा नहीं देता। जहाँ तक अंग्रेजी को ऐंग्लो-इंडियन समुदाय की मातृभाषा बताने का प्रश्न है, मैं संविधान में दी गयी ऐंग्लो-इंडियन की परिभाषा* की ओर उनका केवल ध्यान आकृष्ट करूंगा और उन्हें अपना अस्त्र चलाने के लिए छोड़ दूँगा।

श्री ऐंथोनी द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव में अंग्रेजी को अष्टम अनुसूची में एक भारतीय भाषा के रूप में सम्मिलित करने के लिए कहा गया है। उनके समर्थक कहते हैं कि उनके प्रस्ताव के कारण हिन्दी या अन्य भाषाओं के बारे में सांविधानिक व्यवस्थाओं

* संविधान के अनुच्छेद ३६६ के अनुसार 'आंग्ल-भारतीय' से अभिप्रेत है वह व्यक्ति जिसका पिता अथवा पितृ परम्परा में कोई अन्य पुरुष जनक यूरोपीय उद्भव का है या था, किन्तु जो भारत राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत अधिवासी है और जो ऐसे राज्यक्षेत्र में ऐसे माता-पिता से जन्मा है जो वहाँ साधारणतया निवास करते रहे हैं और केवल अस्थायी प्रयोजनों के लिए नहीं ठहरे हैं।

में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यह तो केवल जनता को भ्रम में डालने के लिए एक तर्क है। यदि अंग्रेजी को आठवीं अनुसूची में संशोधन करके भारतीय भाषा के रूप में मान्य किया जा सकता है तो किसी दिन अंग्रेजी को ही भारत और राज्यों की एकमात्र सरकारी भाषा बनाये रखने का तर्क भी इसी आधार पर प्रस्तुत किया जाने लगेगा। यह भी ध्यान में रखना होगा कि यद्यपि कुछ प्रचलित अंग्रेजी शब्दों को अपनाये रखा जा सकता है, तथापि अंग्रेजी हिन्दी के विकास के आधार के रूप में अन्य भाषाओं की भाँति सहायक नहीं बन सकती। हिन्दी की स्वाभाविक प्रतिभा में बाधा डाले बिना अंग्रेजी शब्दों को हिन्दी के साथ मिश्रित नहीं किया जा सकता। हिन्दी में 'साइकिल' शब्द का प्रयोग चलते रहने देना और बात है, किन्तु हम 'साइकिलरट', 'साइक्लिक', 'एनसाइक्लिक', 'साइक्लोस्टाइल' आदि का प्रयोग नहीं कर सकते। सच्ची बात यह है कि जब प्राविधिक (तकनीकी) और वैधानिक विषयों के लिए उपयुक्त शब्द ढूँढ़ने पड़ते हैं तो हमें संस्कृत का आश्रय लेना ही पड़ता है। हम अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों को नहीं अपना सकते, क्योंकि वे अकेले नहीं, अपने पूरे परिवार के साथ आते हैं।

(११ मई, १९५९)

क्या हमने चीनी आक्रमण से शिक्षा ली?

गत वर्ष उत्तर-पूर्वी सीमान्त (NEFA) और लद्दाख में हमारे सैनिक पराभव की जाँच की रिपोर्ट को जनता और संसद् को न बताते हुए प्रतिरक्षा मंत्री ने जाँच के मोटे-मोटे निष्कर्षों को प्रस्तुत करने के लिए कहा है। उनके वक्तव्य के अनुसार जाँच का उद्देश्य उसके लिए उत्तरदायी व्यक्ति की खोज करना नहीं, बल्कि उससे शिक्षा लेना है। अतः प्रतीत होता है कि उत्तरदायी व्यक्ति की ओर इंगित करने के स्थान पर प्रतिवेदन में केवल गोलमटोल बातें हैं। इस प्रकार के झाड़ूफेर ढंग के निष्कर्षों से कुछ थोड़े लोगों की रक्षा तो हो जाती है, किन्तु सभी लोगों पर अपराध का कलंक लग जाता है। इसका कर्तव्यनिष्ठों पर अनुत्साहकारक प्रभाव पड़ता है, जबकि लापरवाह व्यक्ति दण्ड से बच जाता है। इसमें कर्तव्यच्युत व्यक्ति की कोई शिक्षा लेने की संभावना नहीं है, विशेषकर तब जब उसे पश्चात्ताप नहीं हो। हम आशा करते हैं कि दोषी व्यक्ति को संरक्षण देने का प्रयास नहीं किया जायेगा।

प्रतिरक्षामंत्री के वक्तव्य से जहाँ तक आभास मिलता है, रिपोर्ट में कोई ऐसी बात नहीं कही गयी है जो पहले न कही गयी हो। अब तक, अधिकृत प्रवक्ता के अनुसार भूभाग-विशेष की कठिनाइयाँ, उपकरणों की कमी, सैनिक-संख्या की कमी और आक्रमण की आकस्मिकता आदि हमारे पराभव के कारण थे। किन्तु लोगों को कुछ और बात का भी सन्देह था और जाँच से यह बात प्रकट है कि सर्वोच्च स्तर पर घटना के पूर्वज्ञान का अभाव था। रिपोर्ट में ऊँचे सैनिक अधिकारियों पर निचले एवं स्थानीय स्तर पर युद्ध-कार्य में हस्तक्षेप करने के आरोप लगाये गये हैं। वक्तव्य के अनुसार ये सब बातें प्रचलित संहिता और पद्धति के परित्याग की सूचक हैं।

जाँच में स्पष्ट रूप से नीति-निर्माताओं पर सेना का समुचित निर्देशन करने में विफल रहने का दोष लगाया गया है। वक्तव्य में कहा गया है कि "बड़ी से बड़ी और सर्वोत्तम प्रकार से सुसज्जित सेनाओं को भी अपनी सरकारों से समुचित मार्गदर्शन तथ महत्त्वपूर्ण निर्देश प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती है।"

स्पष्ट ही, सेना नहीं, सरकार दोषी रही। सरकार ने और प्रतिरक्षा-मंत्रालय ने, जिसके प्रधान उस समय श्री वी.के. कृष्ण मेनन थे, कम्यूनिस्ट चीन के साथ युद्ध की संभावना कभी नहीं मान्य की। परिणामस्वरूप, सेना युद्ध की दृष्टि से तैयार नहीं थी।

इसमें आश्चर्य नहीं है कि आरम्भ में हमारी सेनाओं को बुरी स्थिति में अच्छी कारगुजारी कर दिखाने का प्रयास करते हुए पराभव सहना पड़ा। किन्तु इसके पूर्व कि वे अपने साधन सुधार सकें और युद्ध की गति बदल दें, अपमानास्पद एकपक्षीय युद्धविराम स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार हमारी प्रतिरक्षा-सेनाओं पर जो कलंक का टीका लगा हुआ है, उसके लिए सरकार उत्तरदायी है।

इस सम्बन्ध में इस बात के कोई संकेत नहीं हैं कि सरकार ने अतीत के अनुभवों से कोई शिक्षा ग्रहण की है। क्या सेना को कम्यूनिस्ट चीन के साथ युद्ध के बारे में स्पष्ट निर्देश दिये गये थे? प्रधानमंत्री की उक्तियाँ गोलमोल हैं और वे सारे प्रश्न को मेघाच्छादित कर देती हैं। शत्रु से पहल छीन लेने और खोये क्षेत्र को पुनः हस्तगत करने की बात तो दूर, प्रधानमंत्री चीनी उद्देश्यों के बारे में १९६३ के सितम्बर में भी उतने ही भ्रम में हैं, जितने वे १९६२ के सितम्बर में थे। राज्यसभा में विदेश-सम्बन्धों पर बहस के समय वे कम्यूनिस्ट चीन के साथ 'सीमा-मतभेदों' को सुलझाने के लिए शांतिपूर्ण उपायों की ही रट लगाते रहे। भारत सरकार अभी भी कोलम्बो-प्रस्तावों से चिपकी हुई है और 'किसी व्यक्ति या व्यक्तिसमूह के द्वारा मध्यस्थता' के लिए भी तैयार है। ये सब सैनिक दृष्टि से किये गये विचार नहीं हैं और मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक दृष्टि से देश को तथा सशस्त्र सेनाओं को चीनी खतरे का सामना करने के लिए तैयार नहीं कर सकते।

प्रतिरक्षामंत्री के वक्तव्य भी इसी बात के संकेत दे रहे हैं कि सरकार ने इस विषय में कोई नीति नहीं निर्धारित की है। चतुर्थ डीवीजन को गत नवम्बर में प्राप्त अपवश से मुक्त करते हुए प्रतिरक्षामंत्री ने यह आशा व्यक्त की कि 'सुप्रसिद्ध चतुर्थ डीवीजन, यदि कभी भविष्य में हमारे देश पर कोई आक्रमण हुआ तो, अन्य अनेक युद्ध जीतने के लिए जीवित रहेगा।' इस प्रकार उद्धार की आशा हमारी ओर से किसी दृढ़ कार्यवाही में नहीं, बल्कि चीन द्वारा भविष्य में और आक्रमण किये जाने में निहित है।

इस सबका अर्थ गत वर्ष की अपमानास्पद और दुःखद घटनाओं को अनदेखा कर देना है। खोये हुए क्षेत्र और खोयी हुई प्रतिष्ठा को फिर से प्राप्त करने की सरकार की कोई इच्छा नहीं प्रतीत होती। यह गत नवम्बर की तुलना में बहुत नीचे खिसक आना है। यह वही स्थिति है, जिसे सरकार ने भूतपूर्व प्रतिरक्षामंत्री के दुष्प्रभाव के अंतर्गत अपनाया था। जब तक इसमें परिवर्तन नहीं होता, तब तक सरकार की

प्रतिरक्षा-नीति उपयोगी नहीं बन सकेगी। वह लोगों को प्रेरणा नहीं दे सकेगी। श्री यशवन्तराव बलवन्तराव चव्हाण ने प्रतिरक्षा-मंत्री का पदभार ग्रहण करते समय देश की परंपराओं का उल्लेख किया था। उन्हें अपने को उनके अनुरूप सिद्ध करना चाहिए।

यह आश्चर्यजनक है कि प्रधानमंत्री ने चीन और पाकिस्तान के प्रति व्यवहार में दो मानदण्ड अपनाये हैं। वे पाकिस्तान की बढ़ रही शत्रु-भावना को ठीक-ठीक समझते हैं और कहते हैं, "यह स्पष्ट है कि वर्तमान परिस्थितियों में, अर्थात् जब पाकिस्तान चीन के साथ अधिकाधिक मैत्री का प्रयत्न कर रहा है, पाकिस्तान के साथ सन्तोषजनक निबटारे की आशा नहीं है।" उनका यह भी मत है कि किसी भी समझौते पर पहुँचने से पूर्व यह आवश्यक है कि पाकिस्तान अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करे।

इस सम्बन्ध में पाकिस्तान का उतना ही दोष है जितना चीन का। यदि अपनी भारतद्वेषी मनोवृत्ति के कारण पाकिस्तान चीन के साथ साँठ-गाँठ कर रहा है, तो चीन भी पाकिस्तान से हाथ मिला रहा है। स्पष्ट ही, चीन के साथ कोई समझौता किया जा सके, इसके पूर्व चीन के रुख में भी परिवर्तन होना चाहिए। इसलिए क्या प्रधानमंत्री को पाकिस्तान की भाँति ही चीन के साथ भी समझौते की संभावना को समाप्त नहीं मानना चाहिए? केवल यही सम्मानास्पद और यथार्थ होगा।

(६ सितम्बर, १९६३)

मेनन को हटना ही चाहिए!

प्रतिरक्षामंत्री द्वारा देश की प्रतिरक्षा और सुरक्षा के लिए हानिकर वक्तव्य दिये जाने के कारण प्रधानमंत्री को अपने मासिक संवाददाता-सम्मेलन (प्रेस-कान्फरेंस) में एक बार फिर उनका बचाव करना पड़ा। बताया जाता है कि श्री वी. के. कृष्ण मेनन ने कहा है कि भारत की प्रतिरक्षा-सेनाएँ यद्यपि सशक्त हैं, तथापि चीनी खतरे का सामना करने के लिए अपर्याप्त हैं। एक अन्य अवसर पर भी उन्होंने यह कहा कि सरकार संविधान में पहले संशोधन किये बिना भारतीय क्षेत्र को पाकिस्तान या चीन को समर्पित नहीं कर सकती। प्रधानमंत्री को इन वक्तव्यों में कोई आपत्तिजनक बात नहीं दिखाई देती। उन्होंने यह भी मत व्यक्त किया कि अपनी सैनिक शक्ति की अपर्याप्तता की चर्चा करने में प्रतिरक्षामंत्री का एकमेव उद्देश्य लोगों से अपनी शक्ति बढ़ाने का अनुरोध करना हो सकता है।

प्रतिरक्षामंत्री के दूसरे मंतव्य के प्रति प्रधानमंत्री का उत्तर अत्यन्त अस्पष्ट था। उन्होंने कहा कि 'बिना इन प्रक्रियाओं को पूर्ण किये कोई भी व्यक्ति और कोई भी सरकार ऐसा नहीं कर सकती। अन्ततः यह दो राष्ट्रों के बीच का प्रश्न है। यदि कहा जाय तो यह दीर्घकाल में सापेक्षिक शक्ति का प्रश्न है।'

लोगों से देश की शक्ति बढ़ाने का अनुरोध करना एक बात है, और यह कहना कि चीनी आक्रमण के खतरे का सामना करने में हमारी सैनिक शक्ति अपर्याप्त है, अलग बात है। इस प्रकार के वक्तव्य का परिणाम जनता और सेना के नैतिक बल में ह्रास होगा। यदि यह सही भी हो, तो भी कोई प्रतिरक्षामन्त्री गर्व के साथ इस प्रकार की मताभिव्यक्ति नहीं कर सकता। जहाँ तक हमारे अपने देश का सम्बन्ध है, तथ्यों के आधार पर—और प्रधानमंत्री तथा स्वराष्ट्रमंत्री द्वारा पहले दिये गये वक्तव्यों के आधार पर भी—हम जानते हैं कि हमारी सैनिक शक्ति की अपर्याप्तता नहीं, बल्कि सरकार की शांतिवादी नीति ही हमारे सैनिक अधिकारियों को रोकती रही है। यदि उन्हें आगे बढ़ने की अनुमति दी जाय, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि विकट पर्वतभूमि और ठण्डे मौसम की कठिनाइयों के बावजूद वे चीनियों को अपनी सीमाओं से उसी सरलता के साथ खदेड़ कर दिखायेंगे, जिस प्रकार उन्होंने पाकिस्तानियों को कश्मीर में युद्धविराम-रेखा के पार मार भगाया था। किन्तु जब प्रतिरक्षामंत्री ने यह वक्तव्य

दिया, तब वे निश्चित रूप से चीनियों को संकेत देना चाहते थे—जैसा कि उन्होंने उस समय किया था, जब उन्होंने चीनियों को लद्दाख से निकाल बाहर करने के लिए सैनिक शक्ति का उपयोग न करने के बारे में भारत सरकार को वचनबद्ध कर दिया था।

चीन या पाकिस्तान को क्षेत्र समर्पित करने के सरकार के अधिकार के बारे में उनके दूसरे वक्तव्य के सम्बन्ध में प्रधानमंत्री का उत्तर अशुभकारी है। प्रधानमंत्री ने स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कहा है कि इन देशों को अपने क्षेत्र सौंपने का कोई प्रश्न नहीं है। इसके विपरीत उन्होंने दूसरे शब्दों में प्रतिरक्षामंत्री के कथन को केवल दुहराया है। सभी जानते हैं कि सरकार भारतीय क्षेत्र का कोई अंश हस्तान्तरित नहीं कर सकती। यदि कोई व्यक्ति ऐसा रहा है जो संविधान द्वारा सरकार के अधिकारों पर लगाये गये नियंत्रण के बारे में अनभिज्ञ था, तो वह स्वयं प्रधानमंत्री ही हैं। यदि वे इससे अनभिज्ञ नहीं होते तो नेहरू-नून समझौते के अन्तर्गत बेरुबाड़ी एवं अन्य भागों को पाकिस्तान को हस्तान्तरित करने के समझौते पर सहमत न होते। उन्हें यह स्मरण दिलाने के लिए कि इस बारे में वे सर्वाधिकार-सम्पन्न नहीं हैं, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की आवश्यकता पड़ी। किन्तु जब वे यह कहते हैं कि कोई भी सरकार इन प्रक्रियाओं के बिना वैसा नहीं कर सकती, तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऐसा कोई हस्तान्तरण करने की बात अवश्य सोच रहे हैं। और इसके अतिरिक्त जब वे दो देशों की सापेक्षिक शक्ति की चर्चा करते हैं, तब वे निश्चित रूप से जनता के मन पर यह छाप डालना चाहते हैं कि ऐसा हस्तान्तरण अपरिहार्य है। यदि कोई पाकिस्तान को क्षेत्र-हस्तान्तरण की बात कहे तो उसका कुछ आधार भी है, क्योंकि तत्सम्बन्धी प्रकरण सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा गया है: पर इस सन्दर्भ में चीन की चर्चा क्यों आनी चाहिए? क्या चीन को कोई क्षेत्र हस्तान्तरित करने का कोई प्रश्न उपस्थित है? प्रधानमंत्री को प्रतिरक्षा-मंत्री के वक्तव्य का स्पष्ट शब्दों में खण्डन करना चाहिए था, पर उन्होंने वैसा नहीं किया।

प्रतिरक्षामंत्री बहुधा ऐसे वक्तव्य देते रहे हैं—जिन पर लोगों को आपत्ति है—जिनका प्रधानमंत्री को या तो बचाव करना पड़ा या खण्डन करना पड़ा। कोई यह नहीं कह सकता कि मेनन ने ये वक्तव्य असावधानीवश दिये हैं। वे अंग्रेजी भाषा पर अधिकार के लिए सुप्रसिद्ध हैं। उन पर बिना सोचे वक्तव्य देने के आरोप भी नहीं लगाये जा सकते। हम जिस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं, वह केवल यही है कि वे

उक्त वक्तव्य जानबूझ कर और एक निश्चित योजना के साथ देते हैं। यह कहना कठिन है कि क्या वे वही बात कहते हैं जो प्रधानमंत्री सोच चुके होते हैं, या वे इसलिए ऐसा वक्तव्य दे डालते हैं कि प्रधानमंत्री एक विशेष दिशा में कदम उठाने के लिए बाध्य हो जायें। कारण चाहे जो हो, ऐसे उदाहरण हैं जब उन्होंने सरकार को विचित्र स्थिति में डाल दिया है। उनके वक्तव्यों से केवल इस विश्वास को बल मिलता है कि वे देश के हितों की रक्षा करने के बदले केवल उनका मूलोच्छेदन कर रहे हैं।

काफी समय से लोग यह माँग करते आ रहे हैं कि प्रतिरक्षा-मंत्री को उनके पद से मुक्त कर दिया जाय। पहले, प्रधानमंत्री ने भी इस प्रकार की छाप छोड़ी थी कि इस सम्बन्ध में यथासमय जनता की इच्छा की पूर्ति की जायेगी। ऐसी भी सूचना थी कि प्रतिरक्षा-मन्त्रालय दो भागों में विभक्त कर दिया जायेगा और श्री वी०के० कृष्ण मेनन प्रतिरक्षा-उत्पादनों के प्रभारी बनाये जा सकते हैं। अब प्रधानमंत्री ने कहा है कि इस प्रकार के समाचार निराधार हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रतिरक्षामंत्री अपने वर्तमान पद पर बने रहेंगे। इस सम्बन्ध में प्रधानमंत्री द्वारा जन- इच्छा की सतत् अवहेलना दुर्भाग्यपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे जनता की भावनाओं की और सशक्त अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। यदि जापान में एक प्रधानमंत्री को—और केरल में संपूर्ण मंत्रिमण्डल को—त्यागपत्र देने के लिए विवश किया जा सकता है, तो जनता के लिए एक अवांछनीय मंत्री को पद से हटा देना कठिन नहीं होगा। यदि जनता ने आंदोलन की पद्धति नहीं अपनायी है, तो उसका कारण केवल यह है कि हमारी उत्तरी सीमाओं पर आक्रमण के कारण संवेदनशील स्थिति उत्पन्न है। परन्तु यह भी हो सकता है कि इस प्रकार के आक्रमण का सामना करने की आवश्यकता ही उन्हें एक ऐसे प्रतिरक्षामंत्री से मुक्ति पाने के लिए आंदोलन का मार्ग अपनाने को विवश कर दे, जो अपनी कथित कम्युनिस्ट मनोवृत्ति के कारण चीन के विस्तारवाद और आक्रामक मनोदेश्य को रोकने में देश और सेना का उचित नेतृत्व नहीं कर सकता। इस महत्त्वपूर्ण प्रसंग में प्रधानमंत्री को जनता के धैर्य की परीक्षा नहीं लेनी चाहिए।

(४ जुलाई, १९६०)

क्या हमें गुटवन्दी अपनानी चाहिए?

कम्यूनिस्ट चीन की आक्रामक विस्तारवादी नीति ने न केवल दक्षिण एशिया के देशों के लिए राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की समस्या उत्पन्न कर दी है,बल्कि सोवियत रूस और पश्चिमी देशों के संयुक्त प्रयास से अन्तरराष्ट्रीय जगत् में निर्मित वातावरण को भी दूषित बना दिया है। जबकि रूस या अमरीका परिश्रमपूर्वक और सतर्कतापूर्वक शिखर-सम्मेलन को सफल बनाने का प्रयास कर रहे हैं, उनके मित्र देश चीन और फ्रांस ऐसी नीति अपना रहे हैं जो किसी भी शिखर-सम्मेलन को अर्थहीन बना देगी।

हम शिखर-सम्मेलन की उपयोगिता को तो मान्य करते हैं, क्योंकि शीतयुद्ध के द्वारा उत्पन्न तनाव को कम करने में उससे कुछ सहायता मिल सकती है, किन्तु , दीर्घकालिक विश्व-शान्ति के उद्देश्य की पूर्ति में किसी अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन के वास्तविक लाभकारी होने के बारे में हम अधिक आशावादी नहीं हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि विश्व का वर्तमान राजनीतिक मानचित्र न तो संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र के सिद्धान्तों के अनुरूप है, और न मानव-जनसंख्या का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे लोगों की संख्या विशाल है जो अपनी स्वतः की प्रतिभा के अनुसार विकास करने की मूलभूत स्वतन्त्रता से वंचित हैं। ऐसी सरकारें हैं जो सभ्य लोगों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती हैं, पर जो तैमूर और चंगेज खाँ के पदचिह्नों पर चल रही हैं। कहीं भी मानव-मानव के बीच समानता नहीं दिखाई देती, और कुछ देशों में तो इसकी चर्चा करना तक अपराध है। पाश्चात्य विश्व की जनतांत्रिक अंतश्चेतना वर्णभेद को कैसे सहन कर सकती है? परन्तु उपनिवेशवाद, जातीय भेदभाव, शोषण और स्वेच्छाचारी शासन चल रहे हैं और विश्व के नेता अपनी अंतश्चेतना की वेदना को स्थायी शान्ति और समृद्धोन्मुख विश्व की गंभीर घोषणाओं के द्वारा दबा देने का प्रयत्न करते हैं।

इन सबकी दलित, पतित और गुलाम मानवता पर कोई छाप नहीं पड़ती। वे किसी शीर्ष-सम्मेलन के निर्णयों से तब तक आबद्ध नहीं हैं जब तक उनसे उनकी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति का मार्ग नहीं प्रशस्त होता। यदि शिखर-सम्मेलन का यह अर्थ है कि अफ्रीका के लोगों को अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रयास बन्द कर देना चाहिए, और यह भी कि स्वतन्त्र विश्व को हंगरी एवं अन्य देशों में रूस के,

अल्जीरिया में फ्रांस के, केन्या में ब्रिटेन के और तिब्बत में चीन के कुचक्रों को वैध मान लेना चाहिए, तो यह मानव जाति के विरुद्ध एक षड्यन्त्र तथा लुटेरे राष्ट्रों के बीच के एक समझौते से अधिक कुछ नहीं होगा और प्रपीड़ित राष्ट्रों द्वारा वह शायद ही आदृत होगा।

इसलिए भारतीय जनसंघ ने अन्तरराष्ट्रीय स्थिति पर अपने प्रस्ताव में इस दिशा में शिखर-सम्मेलन का ध्यान आकृष्ट किया है। अफ्रीका में स्वतंत्र राष्ट्रों का जन्म इस उद्देश्य के अनुरूप है, इसलिए जनसंघ ने उनका हार्दिक अभिनंदन किया है। जनसंघ ने यह माँग की है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को विश्वशान्ति की रक्षा के लिए और गुलाम राष्ट्रों को समानता और स्वतंत्रता का स्तर दिलाने के लिए एक प्रभावकारी तंत्र बनाने हेतु कदम उठाने चाहिए। जब तक विश्व के सभी राष्ट्रों का उसमें प्रतिनिधित्व नहीं होता, तब तक संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने नाम की सार्थकता सिद्ध करने का दावा नहीं कर सकता। संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र (UN Charter) में संशोधन की आवश्यकता है। किन्तु ऐसी आशंका व्यक्त की गयी है कि उसमें संशोधन करने का कोई प्रयास संयुक्त राष्ट्रसंघ के विघटन का कारण बन सकता है। हाँ, ऐसा हो सकता है। किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ (UNO) को लीग आफ नेशन्स (League of Nations) के इतिहास की पुनरावृत्ति करने देने से कोई लाभ नहीं होगा। विश्व-शक्तियों के नेताओं की राजनीतिज्ञता की कसौटी घोषणापत्र में सफलतापूर्वक संशोधन करने में है। यह असंभव नहीं होगा यदि आइजनहोवर यह अनुभव करें कि लिंकन ने जो संघर्ष किया, वह केवल अमरीका के मानव की स्वतंत्रता के लिए नहीं बल्कि पूरे विश्व के मानवों के लिए किया; यदि मैकमिलन यह प्रदर्शित कर सकें कि वे अब किपलिंग-युग के अति अनुदारवादियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि एक ऐसी समान जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं जो स्वेच्छा से अनेकानेक राष्ट्रों को सांविधानिक ढंग से स्वतंत्रता प्रदान कर सकती है; और यदि ख्रुश्चेव यह प्रमाणित कर सकें कि गुलाम और प्रपीड़ित जनता के प्रति कम्यूनिस्ट विश्व की सहानुभूति ऐसे लोगों को अपने पक्ष में लाने के लिए केवल राजनीतिक हथकण्डा नहीं है बल्कि वह कम्यूनिज्म की सच्ची प्रकृति की एक अभिव्यक्ति है और इसलिए उसके शिविर के राष्ट्रों को भी उसी स्वतंत्रता एवं सम्मानपूर्ण व्यवहार का अधिकार प्राप्त है। यदि ऐसा किया गया तो आणविक या अन्य विध्वंसक शस्त्रास्त्रों की आवश्यकता नहीं रह जायेगी और वास्तविक निःशस्त्रीकरण हो जायेगा।

अब हम अपनी समस्याओं को देखें। हमारे सामने एक विकट स्थिति और भारतीय विदेश-नीति के बारे में अति किंकर्तव्यविमूढ़ता उपस्थित है। भारत ने गुटमुक्तता की नीति के अनुसरण का दावा किया है। प्रधानमंत्री इसे 'तटस्थता' की नीति कहना पसन्द नहीं करते, क्योंकि वे विश्व-नाटक के केवल दर्शक बने रहने को तैयार नहीं हैं। यह सच है कि आज हम 'एकाकीपन' की बात नहीं सोच सकते। हम लोग अशान्ति के बीच रह रहे हैं, और जब हमें विश्व की बड़ी गतिविधियों से प्रभावित होना पड़ता है तब उस स्थिति को अपने सर्वोत्तम लाभ के अनुरूप मोड़ने का प्रयत्न न करना बुद्धिमानी की बात नहीं होगी। किन्तु एक विश्व में, जो दो कट्टर विरोधी गुटों में बुरी तरह विभाजित है, उस नीति को, जिसे प्रधानमंत्री ने गतिशील गुटमुक्तता की नीति की संज्ञा दी है, क्रियान्वित करने के लिए ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जो अत्युच्च क्षमताशाली हो। यह मान्य करते हुए भी कि कोई नीति चलाने की अपेक्षा आलोचना करना सदा सरल है, यह विश्वमान्य है कि हम अपने प्रयासों में सफल नहीं हुए हैं। लोगों का ऐसा मत है कि अपनी विदेश-नीति के प्रवक्ता के रूप में हमने गलत व्यक्ति को चुना है। मैं श्री वी.के. कृष्ण मेनन के गुणों की अन्देखी नहीं करता। एक समय था, जब वे देश के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते थे और सर गिरिजाशंकर वाजपेयी के स्वर्गवास के बाद वे अन्तरराष्ट्रीय मामलों के बारे में अपनी व्यापक, स्वानुभूत तथा घनिष्ठ जानकारी के साथ प्रधानमंत्री की सहायता कर सकते थे। दुर्भाग्यवश, आज वे अविवादास्पद व्यक्ति नहीं रह गये हैं, जबकि गुटमुक्तता की नीति को चलाने के लिए अविवादास्पद होना आवश्यक है। उनकी कम्यूनिस्ट मनोवृत्ति छिपी नहीं है। प्रधानमंत्री ने भी यह स्वीकार किया है कि उनमें 'गरममिजाजी की कमजोरी' है। इसलिए देश की अन्तरराष्ट्रीय विदेश-नीति के यह हित में होगा कि वे (मेनन) भारत सरकार और परराष्ट्र-सम्बन्ध-विभाग से अपने को अलग कर लें।

हमने गुटमुक्तता की नीति का अनुसरण करने का निश्चय किया है। किन्तु इस नीति का औचित्य सिद्ध करने की अपनी उत्सुकता में प्रधानमंत्री ने प्रायः इसे एक दार्शनिक आधार देने का प्रयत्न किया है। हम भारतीयों में दर्शन के प्रति लगाव की दुर्बलता है, और इसलिए हम ऐसे तार्किकों के प्रति संवेदनशील हैं। इसका परिणाम नेहरू की विदेश-नीति के प्रति एक प्रकार का भावनात्मक समर्थन है, न कि उस नीति को स्वीकार करने पर अपने ऊपर आनेवाले उत्तरदायित्वों की अनुभूति। और ऐसे

समय में, जब हमारे सामने अनेक अन्तरराष्ट्रीय समस्याएँ उपस्थित हैं, गुटमुक्तता के विरोधी जनता को अपने पक्ष में करने के लिए राष्ट्रीय भावनाओं को सरलता से उद्वेलित कर सकते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि हम अपनी परराष्ट्र-नीति सही-सही बनायें और उसे अंगीकार करने के कारणों को बतायें।

भारतीय जनसंघ का यह सदा से विश्वास रहा है कि किसी देश की परराष्ट्र-नीति उसके विवेकपूर्ण स्वार्थों के आधार पर गठित होनी चाहिए। वह सदैव एक नीति ही रहती है, वह सिद्धान्त नहीं बन सकती। और इसलिए यदि देश के हितों के लिए आवश्यक हुआ तो उसे बदला जा सकता है। यदि हमने गुटमुक्तता की नीति का अनुसरण किया है तो उसका कारण यह है कि उसके द्वारा हमारे हितों का सर्वोत्तम संरक्षण हो सकता है। यह अलग बात है कि जो लोग इसे कार्यान्वित कर रहे हैं, वे देश का सर्वाधिक हितसाधन नहीं कर सकते हैं। यहाँ तक कि आज भी, जब हमारी सीमाओं पर संकट उपस्थित है, हम यही मान रहे हैं कि गुटमुक्तता की नीति हमारे हितों का सर्वोत्तम संरक्षण कर सकेगी। गुटमुक्तता से बात उलझ जायेगी। वस्तुतः जब हम गुटमुक्तता की बात करते हैं, तब उसका यह अर्थ माना जाता है कि हम अपनी ही शक्ति पर और अन्तरराष्ट्रीय स्थिति में सामान्य सुधार के आधार पर अपने हितों की रक्षा कर सकते हैं। ऐसे लोग भी हैं जो इस बारे में सन्देह रखते हैं। उन्हें इन शक्तियों से भय है जो हमारे सामने ताल ठोंक कर खड़ी हैं। ये शक्तियाँ हैं पाकिस्तान और चीन। ये दो भिन्न-भिन्न गुटों में हैं। अतः हम किसी एक खेमे में सम्मिलित होकर इन दोनों की चुनौती का कैसे सामना कर सकेंगे? और संभवतः इनमें से कभी किसी एक से और कभी दूसरे से खतरा बढ़ने की दशा में हम बार-बार इन गुटों की अपनी सदस्यता नहीं बदल सकते। आज दोनों ही हमारी सीमा में धँस आये हैं। जबकि चीन लद्दाख की सीमा लांघकर भारत में घुस आया है, पाकिस्तान अवैध रूप से एक तिहाई जम्मू-कश्मीर पर कब्जा किये हुए है। वैधानिक दृष्टि से हम पाकिस्तान के साथ युद्धरत हैं, और चीन के समक्ष हमने लद्दाख में अपनी सार्वभौमता और अधिकारपूर्ण दावे के वास्तविक समर्पण द्वारा औपचारिक युद्ध को टाल दिया है। जब चीन के आक्रामक कृत्य ज्ञात नहीं हुए थे, और जेहाद का नारा पाकिस्तान का दैनिक कार्य हो गया था, तब इस देश में ऐसे लोग थे जो सोवियत गुट में सम्मिलित होने की वकालत करते थे। अब जब चीनी आक्रमण सामने उपस्थित है, लोग सहायता के लिए अमरीका के पास

दौड़ने की माँग करते हैं। ये लोग इन दो पड़ोसियों से सर्वकालिक संकट बने रहने की अनुभूति की अपेक्षा समाचारपत्रों के शीर्षकों और बीच-बीच के कार्यों से अधिक प्रवाहित होते हैं। हमें चिरस्थायी प्रतिरक्षा के उपायों के बारे में विचार करना चाहिए। इस उलझनपूर्ण स्थिति में गुटमुक्तता का परित्याग नहीं किया जा सकता।

फिर भी यह अनुभव करना आवश्यक है कि गुटमुक्तता की नीति सफल नहीं हो सकती, यदि वह किसी एक या दूसरे राष्ट्र के अप्रसन्न हो जाने के भय पर आधारित बनी रहती है। उस दशा में गुटमुक्तता का अर्थ इस या उस राष्ट्र का तुष्टिकरण या चाटुकारिता होगा। वर्तमान प्रसंग में उसका अर्थ बारी-बारी से दोनों की खुशामद रहा है। हमने तिब्बत में अपना अधिकार चीन को समर्पित कर दिया और उसके द्वारा अपनी सीमा का अतिक्रमण सहन किया, केवल इसलिए कि हम पाकिस्तान से उत्पन्न संकट का सामना कर सकें। अब हम पाकिस्तान की तुष्टि कर रहे हैं ताकि हम चीन का प्रभावकारी ढंग से सामना कर सकें। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि हम दोनों में से किसी का भी प्रभावकारी ढंग से सामना नहीं कर सके हैं। इसके विपरीत वे दोनों ही बारी-बारी से अपने पक्ष में सर्वोत्तम शर्तें मनवाने के लिए हमारी कठिनाइयों से लाभ उठाते रहे हैं। १९५४ का चीन-भारत-समझौता और वर्तमान भारत-पाक-समझौता इसके उदाहरण हैं। गुटमुक्तता के उपयोगी सिद्ध होने के लिए एक साहसपूर्ण नीति की आवश्यकता है, जिसके लिए शक्ति और स्पष्ट निर्णय-क्षमता की आवश्यकता पड़ती है। केवल शक्तिशाली और स्वनिर्भर भारत ही अपने हितों की सुरक्षा और संवर्द्धन कर सकता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सारे उपाय किये जाने चाहिए।

जब हम एक नीति के रूप में गुटमुक्तता की बात करते हैं, तब उसमें सिद्धान्त को घसीटने की आवश्यकता नहीं है। इस नीति का साम्यवाद के प्रति हमारे विरोध या जनतंत्र के प्रति प्रेम से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सच है कि यदि ऊपरी दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो सैद्धान्तिक आधार पर भारत और पश्चिमी विश्व के बीच बहुत-कुछ बातें समान हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ये जनतांत्रिक देश अपनी परराष्ट्र-नीति का निर्धारण किसी सैद्धान्तिक आधार पर नहीं करते। वे केवल अपने देश में जनतंत्र की चिन्ता करते हैं। जहाँ तक दूसरे देशों का सम्बन्ध है, वे केवल इसी बात की चिन्ता करते हैं कि उनके अपने हितों की किस प्रकार सर्वोत्तम रक्षा हो सकेगी। यही कारण है कि उन्होंने अनेक देशों में तानाशाही एवं

पतनोन्मुख सरकारों का समर्थन किया है। यहाँ तक कि साम्यवाद के प्रति उनके विरोध का भी उनकी परराष्ट्र-नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणार्थ, यूगोस्लाविया ने, जो प्रकट रूप में एक कम्यूनिस्ट देश है, उनका सदा समर्थन प्राप्त किया है।

प्रधानमन्त्री का यह कथन सही है कि हमें अपने देश में साम्यवाद से लड़ना है। किन्तु उससे हमें अपने ही देश में अन्तरराष्ट्रीय कम्यूनिज्म के कारण उत्पन्न खतरे को नहीं भूल जाना चाहिए। हम अपने राष्ट्रीय जीवन में अन्तरराष्ट्रीय कम्यूनिज्म को घुस-प्रवेश न करने देकर भी अपनी गुटमुक्तता की स्थिति को बनाये रख सकते हैं। कर्नल नासिर ने इसी नीति का अनुसरण किया है। देश में कम्यूनिस्टों के प्रति प्रधानमंत्री के रुख ने अनावश्यक रूप से परराष्ट्र-नीति को घरेलू विषयों में ला घुसाया है।

(२२ फरवरी, १९६०)

सरकार जनता का विश्वास करे

असैनिकीकरण और समझौतावार्ता के बारे में चीनी प्रस्ताव के प्रति भारतीय रुख बताते समय प्रधानमंत्री ने एक बार और संसद् की उपेक्षा कर दी है। श्री चाऊ एन-लाई का पत्र ७ नवम्बर को मिला, और उसका उत्तर नयी दिल्ली-स्थित चीनी राजदूत को १६ नवम्बर को, जिस दिन संसद् की बैठक आरम्भ हुई, सौंप दिया गया। यदि उत्तर देने में इतना विलम्ब किया जा सकता था—क्योंकि प्रधानमंत्री प्रारम्भ में कई कार्यक्रमों में व्यस्त थे और इस कारण भी कि उन्होंने अपना जन्मदिन देहरादून में, जनता से दूर मनाने का निश्चय किया—तो उसे कुछ दिन और रोका जा सकता था, ताकि जनता के प्रतिनिधियों को अपने मत से सरकार को अवगत कराने का अवसर मिल जाता।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हाल के कुछ परिवर्तनों के बावजूद इस प्रश्न पर राष्ट्र की भावनाओं और सरकार की नीति में भारी अन्तर रहा है। कोई भी जनतांत्रिक सरकार जनता की उपेक्षा करने का साहस नहीं कर सकती, विशेषतः एक ऐसे प्रश्न पर, जिसमें हर प्रयास और पूर्ण राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है। किन्तु भारत सरकार अनवरत रूप से जनता की बात सुनने से इन्कार करती आ रही है। इसके स्थान पर सरकार संसद् के सामने 'जो भाग्य में बदा होगा, वही होगा' की भावना के साथ जाने की तैयारी दिखा रही है।

यही वह रुख है जिसके कारण जनता में असन्तोष बढ़ता जा रहा है। न केवल विरोधी पक्षों ने, अपितु कांग्रेस संसदीय दल तक ने भी इस नीति का विरोध किया है, और ठीक ही विरोध किया है। कांग्रेस सदस्यों ने सरकार को क्षमा न करते हुए उसकी घुटनाटेकू और अयथार्थ चीन-नीति की प्रकट आलोचना की है। कांग्रेस संसदीय दल की निजी बैठकों में तो नीति-निर्माताओं पर और भी तीखा प्रहार किया गया है। संसद्-अधिवेशन के प्रथम दिन की पार्टी की बैठक तो अभूतपूर्व तूफानी रही। यहाँ तक कि पण्डित नेहरू भी आलोचकों को चुप नहीं कर सके। वह बैठक प्रेस के लिए खुली नहीं थी और उसमें उपस्थित सभी सदस्यों को बैठक में हुई बातों को, विशेषतः प्रधानमंत्री के भाषण को, प्रकट न करने की शपथ दिलायी गयी थी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्रधानमंत्री ने यह धमकी भी दी कि यदि उनकी नीति

का समर्थन नहीं किया गया तो वे त्यागपत्र दे देंगे। बताया जाता है कि एक अमरीकी संवाददाता के साथ टेलिविजन-भेंट में उन्होंने अपने मत को व्यक्त भी कर दिया है। उनका मत था कि "मेरे लिए और देश के लिए यह अच्छा होगा कि मैं प्रधानमंत्री-पद का परित्याग कर दूँ।"

फिलहाल मैं इस कठिन घड़ी में प्रधानमंत्री के संभावित या चर्चित अवकाशग्रहण के पूर्वापर की चर्चा करना नहीं चाहता। किन्तु इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर नेतृत्व और जनता के बीच बढ़ रहे मतभेद की उपेक्षा करना या उसे कम करके आँकना अपने ही लिए घातक होगा। किसी नीति के सही या गलत होने के बारे में सदैव तर्क-वितर्क किया जा सकता है। किन्तु वाद-विवाद से युद्ध नहीं जीता जायेगा। केवल जनता की निष्ठा और दृढ़ निश्चय के द्वारा ही सिर पर खड़ी विकट स्थितिजन्य विपत्ति और परीक्षा की घड़ी से उबरा जा सकता है। यदि सरकार की तथाकथित 'सही' नीति राष्ट्रीय संकल्प को दुर्बल करती है या इससे उसके नैतिक बल का ह्रास होता है, तो फिर 'गलत' कदम उठाना ही बेहतर होगा। अंतिम विश्लेषण में जनता का निर्णय सदैव ठीक होता है और वही जीतेगी। हमें अपनी श्रेष्ठता और बुद्धिमत्ता की झूठी भावना से अभिभूत होकर जनता की अवज्ञा और उसका अनादर नहीं करना चाहिए।

यदि सरकार चीन-नीति के निर्धारण में मार्गदर्शन के लिए जनता की ओर मुड़े तो वह न केवल स्थिति का सफलतापूर्वक सामना कर सकेगी, बल्कि वह इस अवसर का उपयोग राष्ट्रीय एकता निर्मित करने के लिए भी कर सकती है जिसमें गत दस वर्षों से क्षीणता के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। यह भले ही यूरोप के बारे में कहा गया हो कि राष्ट्र युद्ध में जीवित रहते और शांति में मरते हैं, पर यह विश्व भर के देशों पर खरा उतरता है। यह सच है कि भारत में हम जनता में सामान्य राष्ट्रीयता एवं सोद्देश्य जीवन की भावना को प्लावित करने के लिए संस्कृति और धर्म के शाश्वत तत्त्वों पर सदा ही अधिक निर्भर रहे हैं। किन्तु इधर विदेशी कल्पनाओं और आदर्शों में वृद्धि के साथ वह मौलिक एकता एक दृश्यमान और सामान्यरूप से समझ में आने वाली अभिव्यक्ति नहीं पाती। आज राजनीति मुख्यतः क्षेत्रीयता, वर्गवाद और व्यक्तित्व-प्रधान हो रही है। संकट के समय में इन पर आधारित भावनाओं को सरलता से दूर किया जा सकता है। किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि प्रधानमंत्री द्वारा राष्ट्रीय एकता के आह्वान के उपरान्त भी कांग्रेसी लोग

राष्ट्रीय प्रश्नों की अपेक्षा गुटबाजियों में ही अधिक व्यस्त है। उनके लिए चीनी आक्रमण का कोई महत्त्व नहीं। चीनियों को देश से निकाल बाहर करने के बदले वे दल के चुनाव में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को उखाड़ फेंकने के लिए अधिक उत्सुक हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वे सरकारी नीति-निर्माण में सहभागी होने की भावना से वंचित हैं। वे यदि सरकारी नीति का समर्थन करते हैं तो उसका कारण यह नहीं है कि उन नीतियों के ठोस होने के बारे में उनका दृढ़ विश्वास है, बल्कि उसका कारण है उनकी असहायता एवं रणनीति। यह आवश्यक है कि इस मानसिक जड़ता को दूर किया जाय और पूरे राष्ट्र को सक्रिय बनाया जाय। उससे हमें अविलम्ब विजय प्राप्त होगी। इसे पूर्ण करने के लिए बहुत प्रयास या विशाल योजनाओं की आवश्यकता नहीं है। आवश्यक केवल यह है कि सरकार और प्रधानमंत्री जनता को विश्वास में लेना सीखें और जनतंत्रीय सांस्थानिक व्यवस्थाओं तथा प्रक्रियाओं की उपेक्षा न करें।

(२३ नवम्बर, १९५९)

चीनी आक्रमण और भारत सरकार

प्रधानमंत्री का चीनी प्रधानमंत्री के नाम पिछला पत्र, यद्यपि इच्छित से बहुत कम था, फिर भी, उनके पूर्व-पत्राचारों की तुलना में सुधार का द्योतक है। उसकी ध्वनि दृढ़ है और अधिकांश तर्क ठोस तथा भौगोलिक तथ्यों, ऐतिहासिक अभिलेखों, संधियों और परम्पराओं पर आधारित है। पहली बार चीनियों से यह स्पष्ट कहा गया कि सीमा के बारे में तब तक समझौता वार्ता नहीं हो सकती जब तक वे लोंगजू और उपरली (NEFA) तथा पूर्वी लद्दाख की अन्य भारतीय चौकियों पर अवैध कब्जा किये हुए हैं। भाषा की सटीकता के अभाव तथा उन स्थानों के बारे में, जहाँ चीनियों ने अतिक्रमण किया है, विवरण के अभाव से बचा जा सकता था, यदि पत्र का प्रारूप तैयार करते समय कुछ और सतर्कता बरतने का कष्ट उठाया गया होता। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि अक्षयचिन क्षेत्र से—जहाँ चीनियों ने एक सड़क बना ली है—आक्रमण समाप्त करने की माँग का जानबूझ कर समावेश नहीं किया गया है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत सरकार उस क्षेत्र में अपने दावे पर बल देना नहीं चाहती।

उस पत्र का सारा अच्छा प्रभाव प्रधानमंत्री के हाल के इस वक्तव्य से निष्फल हो गया है कि चीनियों ने अब तक भारत के जिस क्षेत्र पर कब्जा कर रखा है, वहाँ से उन्हें हटाने के लिए भारत शक्ति का प्रयोग नहीं करेगा। पण्डित नेहरू का मत है कि जब समस्याओं का राजनीतिक हल ढूँढ़ा जा रहा है, तब सैनिक कार्यवाही करना भारत के लिए अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्य होगा। यदि उत्तरदायित्व का अर्थ निष्क्रियता और आत्मसमर्पण है, तब पण्डित नेहरू बिल्कुल सही हैं। किन्तु आक्रामक को पीछे मार भगाने के लिए शक्ति-प्रयोग करना उत्तरदायित्वपूर्ण बात है, अनुत्तरदायित्वपूर्ण नहीं। चीनियों ने गलती से चौकी पर कब्जा नहीं किया है। वस्तुतः उन्होंने वहाँ तैनात हमारे प्रहरी सैनिकों को विवश कर दिया और चौकी पर अधिकार कर लिया। अब यदि पण्डित नेहरू अपने प्रयत्नों द्वारा उसे वापस लेने के लिए तैयार नहीं हैं, तो उनके द्वारा चीनियों को दी गयी इस चेतावनी का कि किसी भी नये अतिक्रमण का प्रतिरोध किया जायेगा, कोई अर्थ नहीं है। जहाँ पहले ही आक्रमण हो चुका है वहाँ प्रतिरोध करने में शक्ति के परित्याग के कारण उनके शब्दों का कोई अर्थ नहीं

रह गया है। यह तर्क कि शक्तिप्रयोग से युद्ध भड़क सकता है, सभी आत्मसमर्पणों और वशानुगत्य के पक्ष में उच्चरित किया जानेवाला एक प्रचलित तर्क है। यदि कल चीन और अतिक्रमण करता है, तो क्या श्री नेहरू अपनी चेतावनी के अनुसार संकट का सामना करने के लिए भारत की सैनिक शक्ति का प्रयोग करेंगे? यदि हाँ, तो उससे भी तो युद्ध भड़क सकता है, और तब क्या वह एक 'अनुत्तरदायित्वपूर्ण' ढंग से कार्य करना नहीं हुआ जो भारत सदृश एक 'परिपक्व' तथा 'बड़े' देश को शायद ही शोभा देगा?

पण्डित नेहरू ने 'राजनीतिक' और 'सैनिक' निबटारे शब्दों का प्रयोग किया है, मानो ये दोनों परस्पर पूर्णतः अलग अर्थ रखते हों। समय पर सैनिक कदम राजनीतिक निबटारे में सहायक होता है। यदि यह कोई न्यायिक निबटारा होता तो बात दूसरी होती। हमने किसी न्यायालय में याचिका नहीं प्रस्तुत कर रखी है जिसके न्यायिक विचाराधीन होने के कारण हमारी ओर से कोई कार्यवाही अनुचित होती। ऐसा प्रतीत होता है कि हम अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं से निबटते समय राष्ट्रीय विधानों को लागू करते हैं। जब हमने उत्तरी सीमाओं पर अपनी सेना तैनात की तब हम जानते थे कि इसका चीनी दुस्साहसिकता पर समाधानकारक प्रभाव पड़ेगा। लोंगजू पर फिर से अधिकार करने से यह प्रदर्शित हो जावेगा कि हम अपनी सीमाओं की रक्षा करना चाहते हैं। यह समझ में नहीं आता कि अन्ततः किस कारण प्रधानमंत्री ने यह घोषणा की। वस्तुतः, इस विषय में श्री वी.के. कृष्ण मेनन ने प्रधानमंत्री से बाजी मार ली। वे प्रधानमंत्री द्वारा प्रेस-कान्फरेंस में अपना मंतव्य प्रकट किये जाने के पहले ही अमरीका में यह घोषणा कर चुके थे। क्या प्रधानमंत्री के दृढ़ रुख को नरम बनाने की यह श्री मेनन की सुनियोजित योजना थी? उन्हें अशोभनीय शीघ्रता में अपनी सीमा से बाहर जाकर यह वचन क्यों देना चाहिए कि भारत अपने खोये क्षेत्रों को फिर से हस्तगत करने के लिए शक्ति-प्रयोग नहीं करेगा? प्रधानमंत्री ने अपने प्रतिरक्षामन्त्री के शब्दों को ही प्रतिध्वनित किया है, जो विदेशी आक्रमणकारी शक्ति के सामने आये बिना ही देश की प्रतिरक्षा करना चाहते हैं। भारत सरकार की नीति कौन निश्चित करता है—प्रधानमंत्री या वी.के. कृष्ण मेनन? इस दिशा में श्री मेनन ने हमारी चीन-नीति का केवल प्रभाव कम करने का कार्य किया है और उन्होंने अपने भाषण द्वारा चीन को आश्वस्त किया है कि भारत द्वारा कड़ा विरोधयुक्त पत्र प्रस्तुत किये जाने के बावजूद उसे भारत से डरना नहीं चाहिए।

हम सीमा-विवाद का 'शान्तिपूर्ण' निबटारा चाहते हैं, जिसका अर्थ स्पष्ट ही बड़े पैमाने पर फेरफार से है। किन्तु जहाँ तक हल्के फेरफार का सम्बन्ध है, चीन किसी समाधान के लिए इच्छुक नहीं होगा, क्योंकि उसने ऐसे क्षेत्रों पर कब्जा कर रखा है जिसे सीमा का वैज्ञानिक ढंग से निरूपण करने पर उसे खाली करना पड़ेगा। वह यह सब क्यों खोना चाहेगा, विशेषकर जब वह जानता है कि उसे शक्तिप्रयोग द्वारा नहीं हटाया जावेगा? जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम तामोडन दे चुके हैं जो पण्डित नेहरू के अनुसार मैकमोहन रेखा के दूसरी ओर था। इस प्रकार चीन वार्ता द्वारा समझौते के माध्यम से कुछ प्राप्त नहीं कर सकेगा और समझौता करने से इन्कार कर देने पर वह कुछ नहीं खोयेगा। उसे हमारी मित्रता और समर्थन प्राप्त है। हम राष्ट्रसंघ में उसके पक्ष की वकालत करते हैं। तिब्बत के हित के साथ विश्वासघात करते रहकर हम बहुत कुछ चीन के पीछे चल रहे हैं। अपने आन्तरिक विषयों में हम चीन-समर्थक और भारतद्रोही शक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता दिये हुए हैं। ये शक्तियाँ मैकमोहन रेखा को मान्यता देने और चीन को आक्रामक कहने से इन्कार करती हैं। चीन-भारत (Sino-Indian) मैत्री के नाम पर वे हमारे वैध राष्ट्रीय हितों का बलिदान दे देने और हमारी सीमा के एक बड़े भाग का समर्पण कर देने की माँग करते और जनता को किंकर्तव्यविमूढ़ बनाने, अशान्ति उत्पन्न करने तथा राष्ट्रीय एकजुटता (Solidarity) को कम करने का प्रयत्न करते हैं। इन परिस्थितियों में ऐसी कौन-सी बात है जो चीन की कम्यूनिस्ट सरकार को सीमा-प्रश्न के शान्तिपूर्ण समाधान और आक्रमण समाप्त करने के लिए विवश करेगी? शायद निकट भविष्य में वह हमारी सीमाओं का और अतिक्रमण न करे। वह प्रतीक्षा कर सकता है और आक्रमण के लिए किसी अन्य उपयुक्त समय का चुनाव कर सकता है।

प्रधानमंत्री ने कहा है कि "भारत और चीन के बीच के सीमा-विवाद को हल करने के लिए काफी समय की आवश्यकता पड़ सकती है।" स्वाभाविक है कि इस सारे समय में तनाव बना रहेगा और हमारी सेना को सक्रिय रूप से अपनी सीमाओं की पहरेदारी और रक्षा करनी पड़ेगी। यह अनवरत तनाव निश्चय ही शान्ति में बाधक होगा। सम्पूर्ण उत्तरी सीमा पर सेना की तैनाती का अर्थ होगा कि भारी परिमाण में आवर्तक व्यय होता रहेगा। शीघ्र से शीघ्र समाधान हमारे हित में है। हम इस प्रश्न को किसी भावी तिथि के लिए नहीं टाल सकते। स्पष्ट ही, यह तभी संभव है जब हम चीन पर कुछ दबाव डाल सकें और उसे उन स्थानों से हटा सकें जहाँ

उसने अवैध रूप से कब्जा कर रखा है। विरोधपत्र और भाषण से न तो पुर्तगालियों ने गोवा खाली किया, और न पाकिस्तान ने टुकरग्राम को। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि चीन ने हमारे क्षेत्र पर जो अवैध कब्जा किया है, उसके बारे में विरोधपत्र भेजकर भारत सरकार संतुष्ट हो गयी है। ये औपचारिक विरोधपत्र किसी भावी सरकार के लिए इन क्षेत्रों पर पुनः दावा करने की दृष्टि से भले ही सहायक हो सकते हैं, पर जहाँ तक वर्तमान सरकार का सम्बन्ध है, उसके चलते सभी व्यावहारिक दृष्टियों से इन क्षेत्रों को भारत के मानचित्र से निकाल दें। प्रधानमंत्री के आवेगपूर्ण भाषणों और लच्छेदार शब्दों का निहितार्थ जनता को मूर्ख बनाना और जो क्षति हो गयी है उसे भूल जाने में सहायक होना है।

(१६ अक्तूबर, १९५९)

इंच-इंच या मील-मील

सदा की भाँति प्रधानमंत्री ने चीनी आक्रमण के प्रश्न पर अपनी स्वाभावजनित दुर्बलता प्रदर्शित की है। जब सर्वप्रथम उन्होंने यह घोषणा की कि उत्तर-पूर्वी सीमान्त की सीमाओं को सैनिक नियंत्रण में सौंप दिया गया है और भारत अपने क्षेत्र के एक-एक इंच की रक्षा करेगा, तब ऊँची आशाएँ बँधी थीं। जनता ने सोचा कि सरकार अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक है, और देश की अखण्डता तथा सम्मान को उसके हाथों में सुरक्षित माना जा सकता है। परन्तु प्रधानमंत्री के बाद के वक्तव्यों ने इन सारी आशाओं पर तुषारपात कर दिया है। अपने मासिक पत्रकार-सम्मेलन में, तथा संसद् के दोनों सदनों में चर्चा के दौरान उन्होंने इस प्रश्न के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोणों तथा सरकार की नीति की सार्वजनिक अभिव्यक्ति की। इन अवसरों पर वे क्रमशः अपने पग पीछे हटाते गये। यद्यपि उन्होंने लच्छेदार मुहावरों का प्रयोग किया है और अपने वक्तव्य में समाचारपत्रों के मोटे-मोटे शीर्षकों के योग्य कुछ दृढ़ मन्तव्य भी प्रकट किये हैं, परन्तु सम्पूर्ण रूप से उनके भाषणों के अध्ययन से निराशा ही हाथ लगती है। अपने प्रत्येक दृढ़ वक्तव्य के साथ उन्होंने उन्हें सीमित करने वाले जिस प्रकार के वाक्यांश जोड़ दिये हैं, उनसे वह दृढ़ता प्रभावहीन हो जाती है और उसका कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं रह जाता।

राज्यसभा में प्रधानमंत्री ने कहा कि सीमा-प्रश्न पर कोई वार्ता होने के पहले आक्रमण-पूर्व की यथास्थिति स्थापित होनी चाहिए। किन्तु लोकसभा में उन्होंने स्पष्ट कहा कि भारत सरकार खोये क्षेत्रों को पुनः वापस पाने के लिए चीनी सरकार से 'अपील' करने के अतिरिक्त अन्य कोई पग नहीं उठा सकती। स्पष्ट ही चीनी आक्रमण से पूर्व की यथास्थिति स्थापित नहीं होने जा रही है। जबकि एक ओर प्रधानमंत्री यह घोषणा करते रहे हैं कि भारत अपने रुख पर दृढ़ है, दूसरी ओर यह कहते हुए कि दृढ़ता की भी एक सीमा है, उन्होंने सहिष्णुता का परामर्श दिया है। वस्तुतः हर बात की सीमा होती है, किन्तु दुर्भाग्यवशात् प्रधानमंत्री की सीमाएँ प्रारम्भ-बिन्दु पर ही स्थित हैं। किसी ने चीन के साथ पूर्ण युद्ध का परामर्श नहीं दिया है। किन्तु क्या हमें केवल कुछ अतिक्रमणकर्ताओं को पीछे हटा देने के लिए थोड़ी शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए? कम्यूनिस्टों ने इन आक्रामक अतिक्रमणों

को छोटी-मोटी घटनाएँ बताया है। अच्छा, तब तो यदि भारत सरकार भी, केवल प्रत्युत्तर में, खोये क्षेत्र वापस लेने की दृष्टि से इसी प्रकार की छोटी-मोटी घटनाओं में संलग्न हो जाय तो उससे किसी को चिन्तित नहीं होना चाहिए। जब मीलों भारतीय क्षेत्र पर अवैध कब्जे से चीन की पंचशील के अति महान् एवं प्रशंसनीय सिद्धान्तों [illegible] से आस्था नहीं डिगी है, तब यदि हम भी अपने अनामंत्रित चीनी मित्रों को हिमालय के दूसरी ओर केवल ढकेल भर देते हैं तो उसका अर्थ हमारा उस आदर्श से डिग जाना कैसा होगा? इसका अर्थ युद्ध नहीं होगा। इसका अर्थ युद्ध हो भी नहीं सकता। यदि पंचशील की रक्षा करनी है तो उसे मैकमोहन रेखा से विपथगामी नहीं होने दिया जा सकता। पंचशील के शिष्टाचार की यह माँग है कि हमारे मित्रों की ओर से जो त्रुटियाँ हों, उनको अवश्य सुधार दिया जाय।

यह व्यावहारिक पग उठाने के बदले पण्डित नेहरू उस 'विवाद' को हल करने के लिए, जिसका भारतीय क्षेत्र में चीनी सेनाओं के बढ़ आने से पहले वस्तुतः कोई अस्तित्व ही नहीं था, सब प्रकार के सुझाव दे चुके हैं। वे मध्यस्थता स्वीकार करने की सीमा तक पहुँच चुके हैं। स्मरणीय है कि पहले अन्तरराष्ट्रीय विवादों में मध्यस्थता के प्रस्तावों को पण्डित नेहरू ठुकरा चुके हैं। देश के हित और सम्मान का तकाजा सीमा-विवाद का हल नहीं—जिसका, जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, कोई अस्तित्व नहीं है—बल्कि चीन द्वारा सीमा के उल्लंघन की समस्या का समाधान है।

फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि प्रधानमंत्री देश की क्षेत्रीय अखण्डता के बारे में बहुत सुदृढ़ नहीं हैं। जब वह यह कहते हैं कि चाहे एक मील क्षेत्र हमारे पास रहता है या चीन को मिल जाता है तो इसका कोई महत्त्व नहीं है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि क्षेत्रीय अखण्डता के स्वरूप की समुचित और देशभक्तिपूर्ण कल्पना का उनमें अभाव है। अखण्डता को भिन्न-भिन्न खण्डों में नहीं मापा जा सकता। "पथ से विलग का अर्थ पथ से विलग है, चाहे इंच भर हो या एक मील हो", यह जार्ज बर्नार्ड शा की उक्ति है जो इस बात पर बल देती है कि विश्वास और विश्वस्तता के बारे में एक इंच का भी महत्त्व है। जब पण्डित नेहरू यह कहते हैं कि वे सीमा में कुछ मील का फेरफार करने के लिए तैयार हैं, परन्तु चीनी मानचित्र में प्रदर्शित विशाल भूखण्ड का नहीं, तब वस्तुतः वे एक बहुत दुर्बल तर्क प्रस्तुत करते हैं। जो एक मील की भी रक्षा नहीं कर सकता, वह सैकड़ों मील की रक्षा कैसे कर सकेगा? यह एक पुरानी कहावत है कि "पेंस की रक्षा करो, पौण्ड स्वयं अपनी रक्षा कर लेगा।" प्रधानमंत्री

के लिए इसमें कुछ शिक्षा है। यदि वे देश के क्षेत्र के बारे में इस प्रकार हल्के ढंग से बात करते हैं तो वे देश की रक्षा के लिए वीर जवानों से यह कैसे आशा रख सकते हैं कि वे आक्रमणकारियों द्वारा अपवित्र किये जाने से पवित्र भारतभूमि की रक्षा के लिए अपने प्राण अर्पित कर देंगे? और हम जानते हैं कि जब युद्ध का प्रसंग आता है तब केवल मीलों के लिए नहीं बल्कि क्षेत्र के एक-एक कण के लिए युद्ध करना पड़ता है। आप इंच-इंच करके जीतते हैं या हारते हैं। गत युद्ध में स्टालिनग्राड में रूसियों ने हर कमरे, हर तल्ले और हर भवन में जर्मनों से डटकर युद्ध किया। महीनों यह युद्ध चलता रहा, तो भी जर्मन उस नगर पर अधिकार नहीं कर सके। इसके लिए प्रधानमंत्री द्वारा व्यक्त किये गये इस प्रकार के उद्गारों से, कि "कुछ मील का क्षेत्र इधर आ जाय या उधर चला जाय, इसका चीन या भारत के लिए कोई महत्त्व नहीं है," प्रेरित दृष्टिकोण से बिल्कुल अलग दृष्टिकोण की आवश्यकता है। जहाँ तक चीन का सम्बन्ध है, उसने बता दिया है कि इसका उसके लिए बहुत महत्त्व है, अन्यथा वह ऐसे क्षेत्रों पर अधिकार ही क्यों करता जिनको हमारे प्रधानमंत्री "ऊसर, आबादी के अयोग्य, जहाँ घास की एक पत्ती तक नहीं उगती" आदि-आदि बताते हैं।

उपूसी (NEFA) में लोंगजू पर, उत्तर प्रदेश में बाराहोती पर और कश्मीर में लद्दाख पर, इन तीन स्थानों पर आक्रमण हुए हैं। प्रधानमंत्री ने अभी तक केवल एक ही पर ध्यान केन्द्रित किया है। जहाँ तक लद्दाख का प्रश्न है, उन्होंने व्यवहारतः वह क्षेत्र चीन को समर्पित कर दिया है। यद्यपि आक्रमण दो वर्ष पूर्व हुआ था, प्रधानमंत्री ने चुनौती का सामना करने के लिए कोई व्यावहारिक पग नहीं उठाया। अपने हाल के वक्तव्यों में भी उन्होंने इस पर ध्यान देने की कोई इच्छा नहीं दर्शायी है। वे सदैव दूसरे पक्ष की आधी से अधिक माँगें मान लेने के बाद समझौता-वार्ता आरम्भ करते हैं। इस प्रकार की बाधाओं के कारण भारत सदा घाटे में रहता है। यदि सीमोल्लंघन की प्रत्येक घटना के बाद समझौतों का अर्थ हमारे लिए कुछ खोना ही है, तो कुछ वर्षों में हम अपने विस्तारवादी पड़ोसियों के हाथ कुछ गज या एक या दो मील नहीं बल्कि अपने क्षेत्र का एक बहुत बड़ा भूखण्ड खो देंगे। ऐसे 'शांतिपूर्ण समझौतों' की, जो हमें हारे हुए युद्ध के समान ही महँगे पड़ते हैं, एक सीमा होनी चाहिए।

दुर्बल तथा डरपोक स्वभाव यद्यपि वैसे ही श्री नेहरू की विशेषता है, तो भी इस

प्रसंग में उनके रुख में परिवर्तन का कारण प्रत्यक्षतः चीनी रुख में कठोरता है। तिब्बत के बारे में भी हमने यही देखा। जब चीनी सेनाओं ने तिब्बत को पदाक्रान्त किया, पण्डित नेहरू ने उनकी इस कार्यवाही की निन्दा की। उसमें उनकी प्रथम और श्रेष्ठ प्रतिक्रिया अभिव्यक्त हुई। किन्तु जब चीनियों ने कठोर रुख अपनाया, तब उन्होंने दलाई लामा को बीच धारा में छोड़ दिया। और अब उन्होंने प्रकरण को संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रस्तुत करने के दलाई लामा के प्रयत्नों का भी विरोध किया है। स्वयं अपने देश की सीमा के बारे में भी, चीनियों का रुख कठोर हो जाने के कारण, पण्डित नेहरू संघर्ष से अत्यन्त भयभीत होकर, एकदम नीचे उतर आये हैं।

प्रारम्भिक सफलता प्राप्त कर लेने के बाद, रूस के मार्गदर्शन में चीनियों ने भी सीमाप्रश्न के शांतिपूर्ण समाधान के लिए एक प्रस्ताव पारित किया है। किन्तु उन्होंने भारत पर न केवल चीनी क्षेत्र पर कब्जा किये रखने का आरोप लगाया है, अपितु इन क्षेत्रों से उसके हट जाने की भी माँग की है। दुर्भाग्य से, इस देश में यह कोई नहीं जानता कि चीनियों का ठीक-ठीक किस क्षेत्र से तात्पर्य है। स्पष्ट है कि चीन की कम्यूनिस्ट सरकार अपने ही दावों के आधार पर सौदेबाजी करने का प्रयत्न करेगी।

पेकिंग में केन्द्रीय कांग्रेस के प्रस्ताव में भारत में दक्षिणपंथी दलों द्वारा संचालित तथाकथित चीनविरोधी आन्दोलन को समाप्त करने की भी माँग की गयी है। यदि चीन की आक्रामक योजनाओं तथा कार्यों के विरुद्ध अपनी चिन्ता व्यक्त करने को चीन के विरुद्ध आन्दोलन माना जाता है, तो कम्यूनिस्टों को छोड़कर सम्पूर्ण भारत उसमें सम्मिलित है। चीन को यह बताया जाना चाहिए—यदि वह इस बात को जानता न हो—कि भारत एक जनतांत्रिक, गैरकम्युनिस्ट देश है। यहाँ जनता को प्रतिक्रिया व्यक्त करने का अधिकार है और चीन की स्थिति के विपरीत, जहाँ 'जनता की' सरकार जनता का नेतृत्व करती है, भारत में सरकार से जनता द्वारा बताये गये मार्ग के अनुसरण की अपेक्षा की जाती है। पेकिंग ने कम्यूनिस्टों को छोड़कर सारे देश को 'दक्षिणपंथी' बताया है। इस प्रकार उसने उन लोगों को कठिन स्थिति में डाल दिया है जो अपने को वामपंथी बताने में गौरव अनुभव करते हैं और वामपंथी एकता के नाम पर कम्यूनिस्टों द्वारा उनसे लाभ उठाने के उद्देश्य से उठाये गये कदमों का शिकार बनते रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वामपंथी होने का मूल्य अपने देश के प्रति विश्वासघात होता है।

संयोग से कामरेड डांगे ने लोकसभा में अपने भाषण में 'चाइना सेण्ट्रल कांग्रेस' के प्रस्ताव के उद्देश्य एवं उसमें निहित बातों का पहले ही अनुमान व्यक्त कर दिया। किन्तु क्या यह 'संयोग की बात' है? चीनियों द्वारा उक्त प्रस्ताव पारित किये जाने के पहले से ही हम उनका दृष्टिकोण जानते हैं।

(२१ सितम्बर, १९५९)

चीनी आपदा और भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी

तिब्बत की हाल की घटनाओं के सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री की हाल की नीति-घोषणा अत्यन्त निराशाजनक है। उसने सभी आशाओं पर तुषारपात कर दिया है और तिब्बत की स्वाधीनता तथा भारत के हितों के लिए वह हानिकर है। केवल दलाई लामा तथा शरणार्थियों के एक समूह को शरण देकर हम न तो तिब्बत को स्वतन्त्रता दिला सकते हैं, और न भारत की जनता की भावनाओं को सन्तुष्ट कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में एक दृढ़ नीति अपनाने की आवश्यकता है। चीनी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध संघर्ष में तिब्बतियों का मार्गदर्शन करने एवं उन्हें निर्देश देने की दलाई लामा को अनुमति दी जानी चाहिए।

भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी भारत की जनता की शांति और चीन के साथ मैत्री की स्वाभाविक भावना का लाभ उठाने का प्रयत्न कर रही है। यदि तिब्बती जनता के हित के प्रति विश्वासघात और कम्यूनिस्ट चीन के आक्रमण को उचित ठहराना चीन-भारत मैत्री का मूल्य हो तो यह मैत्री इस बलिदान के योग्य नहीं है। वस्तुतः एशिया में चिरस्थायी शान्ति और चीन तथा भारत के बीच मैत्री के लिए स्वतन्त्र तिब्बत अपरिहार्य है। आज जबकि चीनी सेना हमारी सीमाओं पर जमी हुई है, और विशेषकर जब उसने अपने दुष्टतापूर्ण मानचित्रों के कारण हमारे मन में गंभीर सन्देह उत्पन्न कर दिया है, तब परस्पर विश्वास और सद्भावना का वातावरण नहीं रह सकता। भारत द्वारा दृढ़ नीति अपनायी जाने से न केवल तिब्बतियों को अपनी खोयी स्वतन्त्रता वापस प्राप्त करने में सहायता मिलेगी, अपितु उससे चीन के आक्रामक रुख पर भी रोक लगेगी। जो लोग भारत द्वारा नम्रता का रुख अपनाये जाने की माँग करते हैं, वे दो समान देशों के बीच सम्मानपूर्ण सम्बन्ध नहीं चाहते, बल्कि वे अन्ततोगत्वा कम्यूनिस्ट विश्व द्वारा भारत को गुलाम बनाया जाना चाहते हैं।

तिब्बत की घटनाओं और उस सम्बन्ध में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा अपनायी गयी नीति ने उस पार्टी के अभारतीय रूप को एक बार पुनः प्रकट कर दिया है। चाहे तिब्बत में जो भी आर्थिक या राजनीतिक पद्धति प्रचलित हो, किसी भी बाहरी को उसे बलात् परिवर्तित करने का अधिकार नहीं है। यदि भारत के कम्यूनिस्ट चीनी राग में स्वर मिलाते हुए इस आधार पर तिब्बत पर चीनी आक्रमण

को उचित ठहरा सकते हैं कि दलाई लामा की सरकार प्रतिक्रियावादी ढंग की है, तब तो यदि उन्हें प्रतीत होता हो कि भारत की सरकार भी 'प्रतिक्रियावादी' है तो वे भारत पर भी चीनी आक्रमण का स्वागत कर सकते हैं। यह विशुद्ध विश्वासघात के सिवा और कुछ नहीं है। हर देशभक्त भारतीय का यह कर्तव्य है कि वह इस बात पर दृष्टि रखे कि कम्यूनिस्टों को ऐसी शक्ति न प्राप्त होने पाये कि वे किसी दिन भारत की स्वतन्त्रता और सुरक्षा को ही गंभीर खतरे में डाल सकें।

(२५ मई, १९५९)

तिब्बत की स्वतन्त्रता और भारत का दाव

अब चूँकि दलाई लामा मसूरी पहुँच गये हैं और बिड़ला निवास में आराम से ठहराये गये हैं, चीनी कम्यूनिस्ट सेनाओं के चंगुल से उनके पलायन से आरम्भ होकर भारत में शरण पाने के अनुरोध तक की कथा का नाटकीय और सनसनीखेज अंश समाप्त हो गया है। मसूरी जाते हुए मार्ग में वे जहाँ-जहाँ गये, जनता ने उनका हार्दिक स्वागत किया। तिब्बती नेता के लिए भारत की जनता के अगाध प्रेम और श्रद्धा का जो निश्छल और उत्साहपूर्ण प्रकटीकरण हुआ है, उससे वे अत्यन्त अभिभूत हैं। कुछ लोग जनता के उत्साह का सम्बन्ध भारतीय आत्मा की आध्यात्मिक और धार्मिक पुकार और सम्माननीय अतिथि के केसरिया वस्त्रों से जोड़ सकते हैं। इस विषय के इस पहलू की न तो उपेक्षा की जा सकती है, न उसको कम करके आँका जा सकता है। परन्तु शान्तिपूर्ण तिब्बती जनता के लिए हमारी चिन्ता और कम्यूनिस्टों के बर्ताव के इस ढंग के प्रति हमारा गहरा असन्तोष ही वह कारण है जिससे जनता में इस प्रकार की तीव्र भावना विद्यमान है। ऐसा भी हो सकता है कि हमारी सुरक्षा और प्रतिरक्षा के प्रति सशक्त खतरे की बढ़ रही अनुभूति के कारण जनता को हजारों की संख्या में उस व्यक्ति के चारों ओर उमड़ पड़ने की प्रेरणा मिलती है, जिसका कष्ट हमारे कष्ट के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि जनता दलाई लामा और भारत सरकार के द्वारा उठाये जानेवाले भावी कदमों की ओर उत्सुकतापूर्वक देख रही है।

प्रधानमन्त्री दलाई लामा से भेंट होने के पहले ही इस बात की अपनी कल्पना का आभास दे चुके हैं कि वे दलाई लामा से किस प्रकार का आचरण चाहते हैं। राज्यसभा में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि दलाई लामा अपनी धार्मिक गतिविधियाँ चलाने के लिए स्वतन्त्र रहेंगे। प्रधानमंत्री ने मत व्यक्त किया, 'किसी भी देश का यह साधारण अधिकार है कि ऐसे विदेशियों की गतिविधियों को वह सीमित कर सके जो अन्य देशों के साथ कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं।' यथावश्यक नियंत्रण लगाने के अपने अधिकार के बारे में कोई मतभेद नहीं रखता, किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि 'हमारे लिए आवश्यक क्या है?'

इस प्रसंग में भारत के सामने एक अत्यन्त संवेदनशील स्थिति उत्पन्न हो गयी

है। चीन एक मित्र देश है। अतीत में हम मित्र रहे हैं और भविष्य में भी मित्र बने रहना चाहेंगे। दोनों देशों की सांस्कृतिक परम्पराओं के अतिरिक्त विश्व-शान्ति बनाये रखने की आवश्यकता का भी यही तकाजा है। प्रधानमंत्री यह तर्क देते हैं कि अमरीका और सोवियत रूस के अतिरिक्त चीन और भारत, जो अपने प्रचुर साधनस्रोतों और विशाल जनसंख्या के साथ तेजी से विकास कर रहे हैं, अगामी वर्षों में 'विश्व के भाग्य का, और विशेषकर एशिया में शांति का, बहुत-कुछ रूप-निर्धारण' करने वाले हैं। इसलिए उनका मत है कि इस उद्देश्य की उपलब्धि तभी हो सकती है, जब दोनों एशियाई देशों के बीच मित्रता की परम्परा बनी रहे।

इस परम्परा की स्थापना करने के लिए वे समय-समय पर मार्ग से अलग हटकर उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करते रहे हैं। उस समय, जब चीन की नवगठित कम्यूनिस्ट सरकार मित्रविहीन और अकेली थी, पण्डित नेहरू आगे आये और उन्होंने उसे मान्यता दी तथा विश्व से एक ऐसी सरकार के लिए संस्तुति की, जिसके बारे में लोगों का इससे अधिक और कोई मत नहीं था कि वह ऐसे विदेशी एजेण्टों का एक दल है, जिन्होंने अपने को 'कम्यूनिस्ट पार्टी आफ चाइना' के रूप में गठित कर लिया और अन्ततोगत्वा अनेक हथकण्डों के द्वारा, जिन्हें चीन-जापान-युद्ध की विशिष्ट परिस्थितियों और च्यांग काई शेक के अक्षम तथा भ्रष्ट प्रशासन से सहायता मिली, वे जनता के नाम पर सत्ता हथियाने में सफल हो गये। यद्यपि अनेक पश्चिमी शक्तियाँ विरोध में थीं, तथापि संयुक्त राष्ट्रसंघ में एवं अन्य विविध विश्व-संगठनों में भारत के प्रतिनिधि समय-कुसमय कम्यूनिस्ट चीन के लिए स्थान की लगातार माँग करते रहे। यह सब एक मित्र पड़ोसी के उचित प्रयोजन का समर्थन करने के स्वार्थरहित आधार पर किया गया।

किन्तु तिब्बत ने एक ऐसा प्रकरण उपस्थित कर दिया, जहाँ निःस्वार्थता का पालन केवल भारत की कीमत पर हो सकता था। पण्डित नेहरू, जो राष्ट्र के विवेकपूर्ण स्वहितों को पोषण देनेवाली परराष्ट्र-नीति का अनुसरण न करने के लिए प्रसिद्ध है, उस समय तिब्बत पर चीनी सार्वभौमता के झूठे दावे के सामने झटपट झुक गये जब पंचशील के भ्रमपूर्ण नये सिद्धान्तों को विश्व में प्रचारित किया जा रहा था। चीन तिब्बत की स्वायत्तता की रक्षा के लिए सहमत हो गया—शायद केवल इसलिए कि भयानक अजगर को प्रसन्न करने के लिए एक भले कार्य के सहसा परित्याग पर पण्डित नेहरू को अपनी अंतश्चेतना को शांत करने का एक बहाना मिल

सके। परन्तु एक तानाशाही सरकार यह नाटक अधिक दिन तक नहीं चला सकी। तिब्बत की स्वायत्तता अपने आप ध्वस्त हो गयी जब चीनियों ने जीवन के हर क्षेत्र में अपने तथाकथित 'सुधारों' को लागू कर दिया। अत्यन्त धार्मिक और आध्यात्मिक मनोवृत्ति के लोग एक विदेशी ढंग और तौर-तरीकों वाले विशुद्ध भौतिकवादी लोगों के साथ कैसे रह सकते थे? जनता के सामूहिक जैविक विकास के वातावरण की बात तो दूर, चीनी तिब्बत में स्वायत्तता-प्राप्त प्रशासन भी नहीं बनाये रख सके। कार्यालयों और विभागों का प्रबन्ध चीनियों द्वारा होने लगा और सहकारिता-कृषि को लागू करके अतिरिक्त चीनी जनसंख्या को बसाने के लिए विशाल भूखण्ड अधिगृहीत किये गये। इन परिस्थितियों में संघर्ष अनिवार्य था।

भारत सरकार को क्या करना चाहिए? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। पण्डित नेहरू के हाल के वक्तव्यों से प्रकट है कि वे दलाई लामा को शरण देकर सन्तुष्ट हो गये हैं। एक धार्मिक नेता के रूप में वे अपना कार्य चालू रख सकते हैं। किन्तु क्या वह उद्देश्य की पूर्ति के लिए पर्याप्त होगा? क्या यह सच है कि भारतीय भूमि पर केवल अपनी विद्यमानता द्वारा दलाई लामा तिब्बती छापामारों के लिए, जिनके बारे में ऐसा समझा जाता है कि वे शत्रु की अपरिमित सैनिक शक्ति के बावजूद तिब्बत की विशिष्ट भू-रचना के कारण सक्रिय रहेंगे, मार्गदर्शक का कार्य कर सकेंगे? यह पेकिंग के लिए एक साधारण-सा सिरदर्द सिद्ध हो सकता है, परन्तु उससे तिब्बती जनता को स्वायत्तता भी नहीं मिल सकेगी, स्वतन्तता की बात तो दूर रही।

इस प्रकरण में भारत का दाव जुड़ा हुआ है। तिब्बत की स्वायत्तता हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि हम उसे स्थापित नहीं कर सकते तो न केवल हमारी अखण्डता और स्वतन्तता संकट में पड़ जायेगी, बल्कि हमारे लिए गुटमुक्तता की नीति भी चालू रखना बहुत कठिन, नहीं-नहीं, असंभव हो जायेगा। जहाँ तक चीन की नीयत का सम्बन्ध है, वह सर्वज्ञात है। उसने 'नक्शे की लड़ाई' छेड़ भी दी है। अब बताया जाता है कि चाऊ एन-लाई ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि चीन और अन्य एशियाई देशों के बीच अनिर्धारित सीमाओं को शान्तिपूर्ण समझौतों द्वारा निश्चित कर लेना चाहिए। स्पष्ट ही, वह मैकमोहन रेखा को, जो भारत और तिब्बत के बीच की सीमारेखा है, मान्य नहीं करता। दोनों देशों के बीच विवाद का बीज-वपन हो चुका है और किसी भी समय चीन की 'जन सरंकार' अपनी 'मुक्ति सेनाओं' को भारतीय ग्रामों को पदाक्रान्त करने का निर्देश दे सकती है। पण्डित नेहरू

ने स्वीकार भी किया है कि चीनियों ने अल्मोड़ा जिले में कुछ युद्धक महत्त्व के भारतीय ग्रामों पर कब्जा कर रखा है। पण्डित नेहरू ने अभी तक कोई कार्यवाही नहीं की है।

चीन की लोलुप आँखें भारत के अतिरिक्त नेपाल, भूटान और सिक्किम की ओर भी हैं। एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में नेपाल अपनी प्रतिरक्षा के लिए स्वयं जिम्मेदार है। तिब्बत में चल रही कम्यूनिस्ट गतिविधियों के कारण नेपाल के शासकों के सामने उसकी भावी प्रतिरक्षा के बारे में विकट प्रश्न उपस्थित हो गया है। पाकिस्तानी समाचारपत्र 'डान' में प्रकाशित इस समाचार को कि नेपाल के महाराजा ने कम्यूनिस्ट आक्रमण की दशा में पण्डित नेहरू से सक्रिय सहायता का आश्वासन माँगा बताया जाता है, जिसके न मिलने पर नेपाल अपनी प्रतिरक्षा-शक्ति में वृद्धि की दृष्टि से 'सीटो' में सम्मिलित होने की वांछनीयता पर विचार करेगा, हम चाहे जितना महत्त्व दे सकते हैं। इस सम्बन्ध में पण्डित नेहरू का क्या कहना है? मूलभूत सैद्धान्तिक आधार पर सैनिक संधियों के प्रति अपने विरोध के कारण वे नेपाल को शायद स्पष्ट आश्वासन देने को तैयार नहीं हो सकते। यदि वे तैयार होते हैं, तो उन्हें अपनी प्रतिरक्षा-शक्ति में, जो पाकिस्तान की आक्रामक योजनाओं का सामना करने के लिए भी पर्याप्त नहीं है, वृद्धि करने के साधनों और उपायों पर विचार करना होगा।

यदि नेपाल अमरीकी गुट में चला जाता है, तो उसका भारत की परराष्ट्रनीति पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ेगा। वास्तव में इस नीति में कुछ सुधार की आवश्यकता है। पण्डित नेहरू ऐसा कुछ करना पसन्द नहीं कर सकते जिससे चीन अप्रसन्न हो, परन्तु चीन का रुख इस पर निर्भर नहीं रहेगा कि पण्डितजी क्या करते हैं, बल्कि इस पर निर्भर होगा कि उसके लिए क्या उपयुक्त है। संयुक्त अरब गणराज्य के सूचना विभाग (UAR Information Department) द्वारा प्रकाशित एक पुस्तिका में ठीक ही लिखा है कि "नेहरू और नासिर ने कई वर्ष पहले बाण्डुंग-आन्दोलन का नेतृत्व किया। तब कम्यूनिस्ट समाचारपत्र शांति के पुजारी के रूप में नेहरू की प्रशंसा कर रहे थे। अब पेकिंग सोचता है कि उनका उपयोग समाप्त हो गया है..... ।"

"इस प्रकार भारत में एक कम्यूनिस्ट अड्डा स्थापित करने की कल्पना उद्भूत हुई है और स्थानीय कम्यूनिस्टों को नेहरू के विरुद्ध प्रचार करने के लिए धन दिया जा रहा है।"

इस योजना के कारण पेकिंग भारत के साथ संघर्ष के प्रसंग से बचने के बारे में

उतना सतर्क नहीं है। इस तथ्य के बावजूद कि पण्डित नेहरू ने तिब्बत के प्रश्न पर एक अत्यन्त ही उदासीन रुख अपनाया है, पेकिंग इस प्रकरण में भारत का हाथ होने का आरोप लगाता जा रहा है। 'चाइनीज न्यूज एजेन्सी' के अनुसार दलाई लामा का वक्तव्य भारतीय परराष्ट्र-मन्तालय के किसी अधिकारी द्वारा तैयार किया गया। चीनियों ने यह आरोप भी वापस नहीं लिया है कि कलिम्पोंग विद्रोह का केन्द्र है। यहाँ तक कि चीनियों द्वारा कश्मीर और नागालैण्ड का प्रश्न उठाये जाने की भी प्रच्छन्न धमकी दी गयी है। यह इस बात का द्योतक है कि चीन गड़बड़ी पैदा करने के लिए उद्यत है और पण्डित नेहरू की कामनाएँ इस स्थिति का निराकरण नहीं कर सकतीं।

तिब्बत की स्वायत्तता के प्रश्न पर केवल एक दृढ़ और निश्चित रुख ही चीन को ठीक कर सकता है। दोनों देशों के बीच मित्रता की रक्षा के लिए यह रुख आवश्यक है। मित्रता आवश्यक रूप से विश्वास और आदर, समानता और परस्पर लाभ पर आधारित होनी चाहिए, न कि आँखों में बेरुखी देखकर हिचकिचाहट से उत्पन्न भय और भ्रान्ति पर तथा विवाद सुलझाने की प्रकट याचना पर।

इसलिए दलाई लामा को अपने स्वातंत्र्य-युद्ध में अपनी जनता का मार्गदर्शन करने के लिए सभी सुविधाएँ दी जानी चाहिए। भारत की जनता की यही इच्छा है। भारत के हितों का यही तकाजा भी है। यदि पण्डित नेहरू यह नीति अपनाने में विफल रहते हैं तो वे इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय अनुभूति और भावना के प्रवाह से अपने को पृथक् कर लेंगे। यह स्वीकार किया जाता है कि इस नीति में कुछ जोखिम भी रहेंगे। परन्तु हमें उनको उठाना ही होगा। यदि हम हिचकिचाते हैं तो भविष्य में हमें और भी बड़े जोखिम उठाने पड़ेंगे, जिनमें हमारी नीतियों में मूलभूत परिवर्तन का भी समावेश है।

(२७ अप्रैल, १९५९)

चुनाव-विधान पर कुछ विचार

तृतीय आम चुनाव पर अपने प्रतिवेदन (रिपोर्ट) में चुनाव आयोग (Election Commission) ने देश के चुनाव-कानून में संशोधन के लिए अनेक सुझाव दिये हैं। सरकार ने चुनाव-न्यायाधिकरणों (Election Tribunals) को समाप्त कर देने विषयक संस्तुतियों को स्वीकार भी कर लिया है। यदि कोई चुनाव-याचिका हो तो उसे राज्य के उच्च न्यायालय (High Court) में प्रस्तुत किया जाना चाहिए, और उस पर एक स्थायी न्यायाधीश द्वारा विचार किया जाना चाहिए। इस व्यवस्था से याचिका के निर्णय में लगने वाले समय में कमी हो सकती है, परन्तु इसमें दोनों प्रतिपक्षियों के खर्च में वृद्धि हो जायेगी। उच्च न्यायालयों में भारी काम एवं विचाराधीन प्रकरणों की संख्या को ध्यान में रखते हुए इसमें भी सन्देह ही है कि याचिकाओं पर शीघ्र निर्णय हो सकेंगे।

सरकार को अभी अन्य संस्तुतियों पर विचार करना शेष है। वे सुधार सुझाते समय आयोग दो मूलभूत उद्देश्यों से प्रेरित है—चुनाव को सस्ता और निष्पक्ष बनाना और दलों की संख्या कम करना, ताकि अन्ततः दो-दल-पद्धति क्रमिक रूप से अस्तित्व में आ जाय। जहाँ तक पहले उद्देश्य का सम्बन्ध है, उसके बारे में दो मत नहीं हो सकते। किन्तु जहाँ तक दूसरे उद्देश्य का प्रश्न है, चुनाव-कानून में किसी प्रकार के संशोधन द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। चुनावों को जनता का सही प्रतिनिधित्व करने दीजिए। यदि मतदाता दो से अधिक दलों को मत देता है तो प्रोक्रुस्टिस* की शैली में चुनाव के परिणामों को तोड़ने-मरोड़ने की अपेक्षा बहुदलीय शासन की संसदीय प्रणाली को अपनाना ही अधिक अच्छा है।

लोकसभा-चुनाव के लिए प्रत्याशियों की प्रतिभूति-राशि (जमानत) को ५०० रु. से बढ़ाकर १५०० रु. कर देने और विधानसभा के लिए प्रत्याशी की प्रतिभूति-राशि २५० रु. से बढ़ाकर ७५० रु. कर देने का सुझाव प्रत्याशियों की संख्या में कमी करने के उद्देश्य से दिया गया है। यह उचित नहीं है। वह निर्धन लोगों को चुनावों से

---

* प्रोक्रुस्टिस एक यूनानी डाकू था, जो खाट के अनुरूप बनाने के लिए अपने कैदियों के पैर कटवा डालता था।

डराकर अलग रखने के समान है। इन कृत्रिम उपायों से प्रत्याशियों की संख्या कम नहीं की जा सकेगी। राजनीतिक दलों के सशक्त होने के साथ यह संख्या अपने आप घट जायेगी। अभी भी, जहाँ कोई भी गैरकांग्रेस दल सशक्त हुआ है, वहाँ बहुकोणीय चुनाव-संघर्षों की संख्या कम रही है।

चुनाव-व्यय को कम करने की दृष्टि से कुछ सुझाव दिये गये हैं। चुनाव-अभियान के लिए कुल समय घटाकर पन्द्रह दिन कर दिया जानेवाला है। इससे निश्चय ही व्यय में कुछ कमी होगी। यह भी प्रस्ताव है कि एक विधानसभा-निर्वाचन-क्षेत्र के लिए उपयोग में लाये जानेवाले मोटर-वाहनों की संख्या तीन तक और संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र के लिए छः तक सीमित कर दी जाय। 'एक ही लाठी से सबको हाँकने' की इस व्यवस्था से उन क्षेत्रों में कठिनाइयाँ पैदा होंगी, जहाँ यातायात-सुविधाओं का अभाव है। विरल मानव-वास वाले क्षेत्रों में भी इस प्रतिबन्ध से उचित चुनाव-अभियान में बाधा पहुँच सकती है। इसके साथ ही, साधन-सम्पन्न लोगों पर, जिनके पास स्वयं के वाहन हैं, इस व्यवस्था को क्रियान्वित करने में कठिनाई हो सकती है।

जुलूसों, प्रदर्शनों और बड़े आकार के झण्डों तथा प्रचारपटों के उपयोग को भी निषिद्ध ठहराने का एक प्रस्ताव है। राजमार्गों पर चल ध्वनि-विस्तारकों (लाउड स्पीकर) के प्रयोग पर भी प्रतिबंध लगाने के लिए कहा गया है। इन प्रस्तावों से व्यय घटेगा और चुनाव-अभियान में शालीनता भी आयेगी। इन्हें स्वीकार किया जा सकता है।

यह सुझाव दिया गया है कि मतदाताओं को ढोने के लिए वाहनों के उपयोग को हस्तक्षेप्य अपराध माना जाना चाहिए। मैं नहीं समझता कि इससे स्थिति में कोई अन्तर आयेगा। यह व्यापक रूप से विद्यमान भ्रष्ट प्रचलन है। सुझाये गये इस संशोधन से पुलिस-अधिकारियों द्वारा परेशान किये जाने का मार्ग प्रशस्त होगा, किन्तु पुलिस दल इस व्यवस्था को क्रियान्वित कराने के लिए पर्याप्त नहीं होगा। इसके स्थान पर मतदान-केन्द्रों की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए, ताकि किसी भी गाँव से मतदान-केन्द्र एक मील से अधिक दूर न रहे। चल-मतदान-केन्द्रों की कल्पना पर भी विचार किया जा सकता है।

इन सुझावों पर आधारित कुछ संशोधनों के अतिरिक्त यह आवश्यक है कि विभिन्न राजनीतिक दलों को चुनाव-प्रतीकों के आबंटन के लिए कोई सन्तोषजनक

पद्धति अपनायी जाय। चुनाव आयोग इस सम्बन्ध में समय-समय पर परिवर्तन करता रहा है। वर्तमान स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। कांग्रेस को छोड़कर, जिसे गोवा को छोड़कर पूरे देश भर में मान्यता प्राप्त है, अन्य प्रत्येक दल को बाधाओं का अनुभव करना पड़ता है। पद्धति में परिवर्तन की आवश्यकता है।

वर्तमान पद्धति के अनुसार राजनीतिक दलों को राज्य स्तर पर मान्यता दी गयी है। किसी भी दल को अखिल भारतीय स्तर पर मान्यता नहीं दी गयी है। १९६२ के चुनावों में जिस दल ने किसी राज्य में कुल डाले गये वैध मतों का कम से कम ४ प्रतिशत प्राप्त किया है, उसे उस राज्य में मान्यता दी गयी है। प्रतिशत का निर्धारण करते समय उन प्रत्याशियों को प्राप्त मतों की गिनती नहीं की जाती, जिनकी प्रतिभूति (जमानत) जब्त हो गयी हो। किसी दल के लिए केवल तभी चुनाव-चिह्न आरक्षित रखा जाता है, जब उसे मान्यता प्राप्त हो जाय। यदि वह मान्यता-प्राप्त दल नहीं है, तो उसके प्रत्याशियों को निर्दलीय माना जाता है और उन्हें स्वतन्त्र चुनाव-चिह्नों की सूची में से, जिसमें किसी दल का चुनाव-चिह्न सम्मिलित नहीं होता—कोई भी एक — चुनाव-चिह्न दिया जाता है। इस प्रकार किसी भी दल का चुनाव-चिह्न केवल उसी राज्य तक सीमित रहता है, जिसमें उस दल को मान्यता प्राप्त हो। 'दीपक' का चुनाव-प्रतीक मद्रास और मैसूर में, और 'दो बैलों की जोड़ी' का चुनाव-चिह्न गोवा में नहीं रहेगा।

यह बिल्कुल एक नयी पद्धति है। यह पूर्ववर्ती तीन आम चुनावों में प्रचलित पद्धति से भिन्न है। इससे राजनीतिक दल अपने चुनावचिह्नों से न केवल वंचित हो गये हैं, बल्कि अन्य कठिनाइयाँ भी पैदा हुई हैं।

उन राज्यों में, जहाँ जनसंघ मान्यताप्राप्त दल नहीं है, उपचुनावों में उसके प्रत्याशी 'दीप' चुनाव-प्रतीक को नहीं प्राप्त कर सके। इसका अन्य प्रत्याशियों ने लाभ उठाया। उन लोगों ने यह प्रचार किया कि वे जनसंघ के प्रत्याशी नहीं हैं, क्योंकि यदि वे भारतीय जनसंघ के प्रत्याशी होते तो इन्हें जनसंघ का चुनाव-चिह्न 'दीप' मिला होता। चूँकि जनसंघ सारे ही, अर्थात् तीनों आम चुनाव इसी चुनाव-चिह्न के साथ लड़ चुका है, अतः वह उन क्षेत्रों में भी सुपरिचित है जहाँ उसे पर्याप्त मत नहीं मिल सके। जनसंघ को, या किसी भी अन्य दल को, उसके विशिष्ट चुनाव-चिह्न से वंचित करना उस दल द्वारा तैयार की गयी उस पृष्ठभूमि पर पानी फेर देना है जिसे उसने गत आम चुनावों में तैयार किया था।

पिछले चुनाव के परिणामों के आधार पर चुनाव-चिह्न के आरक्षण के समय बाद के चार वर्षों में उस दल द्वारा किये गये कार्यों के कारण उत्पन्न परिवर्तनों पर विचार नहीं किया जाता। जहाँ तक कम्यूनिस्ट पार्टी, प्रजा-समाजवादी दल, समाजवादी दल और स्वतन्त्र पार्टी का सम्बन्ध है, सभी प्रकार के विलय और विभाजन हुए हैं। आयोग ने इन पर ध्यान दिया है, और वह समय-समय पर इन दलों के लिए आरक्षित चुनावचिह्नों की सूची में संशोधन करता रहा है। यह सच है कि भारतीय जनसंघ इस प्रकार के किसी परिवर्तन से नहीं गुजरा है, किन्तु उसने ऐसे राज्यों में अपने कार्य का व्यापक विस्तार किया है और शक्तिशाली बना है, जहाँ पिछली बार उसे मान्यता नहीं प्राप्त हुई थी। तृतीय आम चुनाव के पहले आयोग ने स्थिति पर विचार किया था और स्वतन्त्र पार्टी के लिए, जो तब एक नवागन्तुक थी, समुचित व्यवस्था की। यदि इस कार्यवृद्धि पर और प्रत्याशियों की संख्या पर, जिन्हें जनसंघ अगले आम चुनावों में खड़ा करने की इच्छा रखता है, ध्यान दिया जाय तो जनसंघ कई राज्यों में सरलता से मान्यता प्राप्त कर सकता है।

अन्य दल भी इसी प्रकार के दावे प्रस्तुत कर सकते हैं। इस प्रकार आरक्षित चुनाव-चिह्नों की सूची में अनवरत संशोधन करने की आवश्यकता पड़ सकती है। इस कठिनाई से बचने के लिए हमारा यह सुझाव है कि तृतीय आम चुनावों के लिए अपनायी गयी पद्धति को चलाये रखना चाहिए। चुनाव-चिह्नों के आरक्षण के अतिरिक्त, मान्यताप्राप्त दल को मतदाताओं की सूची भी निःशुल्क मिलती है। जहाँ तक इस दूसरी सुविधा का प्रश्न है, इसे केवल उन्हीं दलों तक सीमित रखा जा सकता है जिन्हें मान्यता प्राप्त हो, किन्तु चुनावचिह्न के आरक्षण को आगामी चुनाव के सम्बन्ध में दल की योजनाओं से सम्बद्ध करना चाहिए, न कि पिछले चुनावों में उसके परिणामों से। पुरानी पद्धति सन्तोषजनक थी, और उसमें किसी दल के साथ भेदभाव नहीं था। आयोग ने *भारत में तृतीय आम चुनाव*, ग्रन्थ १ (Third General Election in India, Volume I) में पृष्ठ ३० पर लिखा है :

"स्वतन्त्र चुनावचिह्नों और चुनावचिह्नों के आबंटन के आरक्षण संबंधी पहले के नियमों के अनुसार एक या दो राज्यों में केवल किसी दल के लिए आरक्षित चुनावचिह्न किसी अन्य राज्य में किसी प्रत्याशी को स्वतन्त्र चुनावचिह्न के रूप में भी उपलब्ध नहीं था। कुछ मान्यताप्राप्त दलों ने, जिन्होंने कई अन्य राज्यों में—जिनमें उन्हें मान्यताप्राप्त नहीं थी—कार्यरत होने का दावा किया, इस प्रतिबंध का इस आधार पर विरोध किया कि उन राज्यों में चुनाव-कार्य के लिए उनके चुनावचिह्न प्राप्त न होने से उनको बड़ी बाधा पहुँचेगी। यह एक उचित आपत्ति प्रतीत होती है और आयोग का मत है कि यह उचित होगा कि उन अन्य राज्यों में भी राजनीतिक दलों के प्रत्याशियों को उनके दल का चुनावचिह्न दिया जाय, बशर्ते कि आयोग यह अनुभव करे कि यह वांछनीय है और दल पर्याप्त संख्या में प्रत्याशी खड़े करने वाला है।"

यह आश्चर्य की बात है कि आयोग ने उल्टे ऐसे नियमों का अवलम्बन किया, जो उन नियमों से भी अधिक पिछड़े हैं जिनके बारे में उसका मत है कि दलों की आपत्तियाँ उचित हैं।

राजनीतिक दलों की शिकायतें दूर करने की दृष्टि से आयोग ने स्वतन्त्र चुनाव-चिह्नों की सूची में दल-चुनावचिह्नों को सम्मिलित कर लिया है और इन चुनावचिह्नों के आबंटन के लिए निम्नांकित नियमों को विज्ञप्त किया है :

१- यदि कोई दल किसी निर्वाचन-क्षेत्र में (चाहे वह संसदीय हो या विधानसभाई) कोई प्रत्याशी खड़ा करता है तो उसे अन्य सभी प्रत्याशियों के समक्ष दल का चुनाव-चिह्न देने में वरीयता दी जानी चाहिए।

२- यदि कोई दल संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र में कोई प्रत्याशी खड़ा करता है, तो उस संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी विधानसभाई निर्वाचन-क्षेत्र में किसी प्रत्याशी को वह चुनाव-चिह्न तब तक नहीं दिया जाना चाहिए, जब तक वह उसी दल का प्रत्याशी न हो।

३- यदि कोई दल किसी विधानसभाई निर्वाचन-क्षेत्र से अपना कोई प्रत्याशी खड़ा करता है, तो उस संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र के किसी प्रत्याशी को उसका चुनावचिह्न नहीं दिया जाना चाहिए, बशर्ते कि वह प्रत्याशी उसी दल का न हो।

यह पद्धति इसलिए अपनायी गयी कि एक ओर तो दलीय प्रत्याशियों को दल का चुनावचिह्न अवश्य मिल सके, और दूसरी ओर उन निर्वाचन-क्षेत्रों में, जहाँ दल का कोई प्रत्याशी न हो, वह चुनाव-चिह्न निर्दलीय प्रत्याशियों के लिए मुक्त रहे। फिर भी, आयोग की रिपोर्ट के अनुसार "बहुत से निर्दलीय प्रत्याशी ऐसे थे, जिन्होंने अपने को किसी दल का चुनावचिह्न दिया जाना पसन्द नहीं किया।" स्पष्ट ही दलीय चुनावचिह्न को स्वतन्त्र चुनावचिह्नों की सूची में रखने से किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं हुई। इसलिए यह आवश्यक है कि दलों के चुनाव-चिह्नों के बारे में एक सरल

पद्धति अपनायी जाय और उन्हें देश भर में आरक्षित चुनावचिह्न माना जाय।

वर्तमान में केवल सात ही दल ऐसे हैं—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, कम्यूनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया (दक्षिणपंथी), कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), प्रजा-समाजवादी दल, स्वतन्त्र पार्टी, संयुक्त समाजवादी दल और भारतीय जनसंघ—जो अखिल भारतीय दल होने का दावा कर सकते हैं। उनके चुनाव-चिह्नों को सभी राज्यों में आरक्षित रखना चाहिए। जहाँ तक अन्य दलों का सम्बन्ध है, वे कुछ विशेष राज्यों तक सीमित हैं। फिर भी, यदि उनमें से कोई किसी अन्य राज्य में पर्याप्त संख्या में प्रत्याशी खड़े करने का दावा करता है, तो आयोग उसके लिए समुचित व्यवस्था कर सकता है।

(१० अप्रैल, १९६८)

राजनीतिक दलों के लिए आचार-संहिता

भारत में राजनीतिक दलों के लिए एक आचरणसंहिता बनाने की दीर्घकाल से अनुभूत आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक सम्मेलन आयोजित किये जा चुके हैं। इन सम्मेलनों में कुछ प्रायोगिक निर्णय भी किये गये हैं। वहाँ हुए विचार-विमर्शों के वृत्तों (रिपोर्ट) से ऐसा प्रतीत होता है कि संहिता के व्याप्तिक्षेत्र और स्वरूप का निर्धारण होना अभी भी शेष है। लिये जा रहे विभिन्न निर्णयों का पालन करने के लिए नैतिक बंधन के अतिरिक्त और कोई बंधन नहीं है। फिर भी यदि लोगों को समुचित शिक्षा प्राप्त हो, तो वे निश्चित रूप से राजनीतिक दलों पर प्रभाव डालेंगे, और इस प्रकार संहिता के जानबूझकर उल्लंघन के अवसर कम कर देने में सहायक होंगे।

जनता तथा अन्य राजनीतिक दलों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करने का मुख्य दायित्व कांग्रेस पर है, क्योंकि वह न केवल सबसे पुराना दल है, अपितु सबसे बड़ा दल भी है और सत्तारूढ़ भी है। दुर्भाग्यवश, गत कुछ वर्षों से कांग्रेसियों का राजनीतिक आचरण कुछ श्लाघ्य नहीं रहा है। कांग्रेस का परित्याग करनेवालों के जो दल गठित हुए हैं, वे भी उसी रोग से ग्रस्त हैं, विशेषकर इसलिए कि जो लोग कांग्रेस का परित्याग करते हैं वे शायद ही कभी सैद्धान्तिक आधार पर वैसा करते हैं। इसलिए गैर-कांग्रेसी दलों के लिए यह आवश्यक है कि वे एक ऐसी संहिता का निर्माण करने की जागरूक चेष्टा करें जो स्वस्थ हो और जिससे इस देश में राजनीतिक जनतंत्र का सुगठन हो सके। उन्हें बहुत-सी बुराइयों को दूर करना होगा, जिन्हें कांग्रेस और कांग्रेसियों ने पैदा किया है। इन बैठकों में किये गये कुछ निर्णयों से केवल कांग्रेस और उसके सदस्यों को ही लाभ होगा। उदाहरण के लिए, उस व्यक्ति को टिकट नहीं देना जिसे टिकट देने से किसी अन्य दल ने इन्कार कर दिया हो, या व्यक्तिगत तथा निजी त्रुटियों की चर्चा न करते हुए केवल राजनीतिक बातों तक ही आलोचना को सीमित रखना। फिर भी, इन बातों में कांग्रेस को अनुगृहीत करना ही अधिक अच्छा होगा, क्योंकि यदि इसके द्वारा वह अपने घर को सुव्यवस्थित करने में सक्षम हो सके, तो उसका परिणाम राष्ट्र के सामान्य राजनीतिक स्वास्थ्य पर भी अच्छा ही पड़ेगा।

आवेदन देने से लेकर सामूहिक सत्याग्रह तक, और धरना से लेकर विवश करनेवाले अनशनों तक—ये सभी आज की सामान्य बातें हो गयी हैं। प्रायः जनमत-संग्रह करने (Plebiscite) और लोकेच्छा जानने (Referendum) तक की बातें की जाने लगी हैं। कुछ लोग, विशेषतः कम्यूनिस्ट, हिंसात्मक उपायों की भी चर्चा करते हैं।

सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने के लिए राजनीतिक दलों द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाले साधनों के बारे में भी एक आचरण-संहिता का विकास करने की आवश्यकता है। आज हमारा राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन स्वातंत्र्य-संघर्ष का ही एक विस्तार मात्र रह गया है। इसलिए, लोग सामान्यतया उन सारे साधनों का सहारा लेना उचित समझते हैं, जिनका उपयोग हम विदेशी शासकों के विरुद्ध करते थे। अपने अभाव-अभियोगों को दूर कराने के लिए आन्दोलन करनेवाली जनता के प्रति प्रशासन के दृष्टिकोण में भी कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया है। प्रशासन जनता द्वारा चलाये जानेवाले किसी भी आन्दोलन को कुचल देने के लिए, बिना हिचकिचाहट के, तत्क्षण अपनी पूरी शक्ति लगा देता है और जब सरकार जनता को दबा देने में विफल हो जाती है, तभी वह उनकी माँगें सुनने के बारे में विचार करती है। इस प्रकार प्रत्येक आन्दोलन एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है जहाँ सरकार की स्थिति दुर्बल पड़ जाती है। दलीय सरकार होने के कारण दल के स्वार्थ भी बीच में आ जाते हैं। और, इस प्रकार उन प्रसंगों में भी, जिनमें जनता अपनी माँगें सरकार से मनवा लेती है, शालीनता नहीं रहती। कटुता की भावना रह जाती है। इस प्रकार जनता की दृष्टि में सरकार धीरे-धीरे एक भयजनक पिशाच का प्रतीक बन जाती है। दोनों के बीच खाई बढ़ती जाती है। यह सुखकर स्थिति नहीं है।

जनतंत्र में विश्वास करने वाले सभी राजनीतिक दलों और सरकार को विशिष्ट प्रश्नों के बारे में जनता के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति सम्बन्धी एक समान संहिता मान्य करनी चाहिए। सरकार को प्रस्तावों और आवेदनों के प्रति अधिक उत्तरदायी बनना चाहिए। यदि सरकार गोहत्या पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग करनेवाले दो करोड़ से भी अधिक लोगों के हस्ताक्षरों को रद्दी की टोकरी में फेंक देती है, किन्तु उसी प्रश्न पर सत्याग्रह के सामने झुक जाती है, तो इसे सरकार की जनतांत्रिक भावना का परिचायक नहीं कहा जा सकता। प्रधानमंत्री चाहे जो कह सकते हैं, परन्तु यह सर्वसामान्य भावना है कि आन्ध्र प्रदेश का निर्माण पोत्ती श्रीरामुलु के अनशन

और उनकी मृत्यु के बाद व्यापक पैमाने पर घटित तोड़फोड़ एवं हिंसात्मक घटनाओं का प्रत्यक्ष परिणाम था। इस भावना को दूर किया जाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रधानमंत्री अब अकाली नेता के अनशन के प्रति कठोर रुख अपनाकर शायद वही कर रहे हैं। परंतु यदि मास्टर तारासिंह की मृत्यु हो जाती है, तो जनता की उस भावना को दूर करने का सरकारी प्रयास बहुत महँगा पड़ेगा। वस्तुतः कुछ ठोस कार्य होना चाहिए, ताकि ऐसे अनशनों तथा सत्याग्रहों के अवसर ही न आने पायें। हम सब यह निश्चय करें कि दो चुनावों के बीच किन प्रश्नों पर आन्दोलन किया जा सकता है।

दो आम चुनावों के बीच केवल छोटे प्रश्नों के लिए सरकार पर दबाव डालना चाहिए और बड़े प्रश्नों को चुनाव के समय के जनता के निर्णय के लिए छोड़ देना चाहिए। चुनाव में सरकार को बदल देने के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से सरकारी नीति में बड़े परिवर्तन के लिए हठपूर्ण आग्रह करना अप्रजातांत्रिक होगा।

(४ सितम्बर, १९६१)

कांग्रेस और जनतंत्र

हम लोगों ने संसदीय स्वरूप का जनतंत्र अपनाया है। संविधान के अंतर्गत दो आम चुनाव हो चुके हैं और तीसरा होने जा रहा है। किन्तु केवल संसद् की स्थापना और/या उसके निर्वाचित सदन होने का अर्थ संसदीय जनतंत्र की विद्यमानता नहीं है। ये केवल बाहरी रूप हैं, जो उस स्थिति में अपना सारा महत्त्व खो देते हैं यदि जनतंत्र के सफल संचालन के लिए आवश्यक आन्तरिक वृत्ति का उन लोगों में अभाव हो जो चुनाव में प्रत्याशियों के रूप में खड़े होते हैं और जनता के प्रतिनिधियों के रूप में चुने जाते हैं। यह सच है कि देश के मतदाताओं ने, जिनकी संख्या विश्व में सबसे अधिक है, चुनावों में गहरी रुचि दिखायी और उत्साह से भाग लिया। सब कुछ शान्तपूर्ण ढंग से सम्पन्न भी हुआ। यह इस बात का द्योतक है कि जनता मूलतः जनतांत्रिक और शान्तिप्रेमी है।

किन्तु जनता से भी उन लोगों के विश्वास का, जो सत्तारूढ़ हैं या जो सत्ता हस्तगत करना चाहते हैं, अधिक महत्त्व है, जिसके द्वारा इस देश में जनतंत्र की प्रगति का मार्ग सरल होगा और वर्तमान संस्थान जनता की इच्छा को साकार रूप देनेवाले प्रभावकारी साधन बन सकेंगे। हम यह मान लेने को उत्सुक हैं कि ऐसा विश्वास विद्यमान है। किन्तु हमारी कल्पना गलत भी हो सकती है, और अच्छा यह होगा कि राजनीतिक स्थिति पर समुचित रीति से विचार और उसका विश्लेषण किया जाय ताकि हम भ्रान्ति में न पड़े रहें। हमें अपने जनतांत्रिक अधिकारों को अक्षुण्ण और सुरक्षित रखने के लिए सभी आवश्यक कदम उठाने में पीछे नहीं रहना चाहिए।

स्वतंत्रता के आगमन और संविधान की घोषणा के बीच की अवधि को, जब देश के विभाजन से उत्पन्न समस्याओं, सत्ता के हस्तान्तरण और देशी राज्यों के भारत के साथ एकीकरण के कारण विशेष कार्यवाहियों की आवश्यकता थी, एक असाधारण कालावधि के रूप में छोड़ा जा सकता है, किन्तु उसके बाद सत्तारूढ़ दल (कांग्रेस) ने जिस प्रकार आचरण किया है, उसकी समीक्षा आवश्यक है और तब यह दिखाई देता है कि उसने ऐसा कोई उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया है जिससे जनतंत्र में उसका विश्वास प्रकट होता हो। उल्टे, घटनाएँ विपरीत दिशा का ही संकेत देती हैं।

अब डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के स्तर के महान् सांसदिक की नजरबंदी की स्थिति में रहस्यपूर्ण परिस्थितियों में मृत्यु हो जाय, और सारे प्रकरण की जाँच न की जाय, यह एक ऐसी ज्वलन्त घटना है जिसने इस देश में संसदीय जनतंत्र के भविष्य के बारे में गंभीर शंका उत्पन्न कर दी। संसदीय पद्धति का अर्थ है विचार-विमर्श के आधार पर चलनेवाली सरकार, और, उस पद्धति में अधिकारारूढ़ व्यक्तियों को विरोधियों के दृष्टिकोण पर विचार करने तथा उसे मान्य करने के लिए सदा तैयार रहना होता है। इस पद्धति में अपने अटल विश्वास के साथ डा. मुखर्जी ने प्रजा परिषद् के सत्याग्रह से उत्पन्न प्रश्नों पर विचार-विमर्श हेतु प्रधानमंत्री से मिलने के लिए बार-बार अनुरोध किया, परन्तु प्रधानमंत्री ने एक ऐसे व्यक्ति से मिलने और कश्मीर-प्रश्न पर विचार-विमर्श करने से इन्कार कर दिया जो वस्तुतः विरोधी दल का नेता था। किसी अनभिज्ञ व्यक्ति को यह तर्क देकर शान्त किया जा सकता है कि प्रधानमंत्री को संसद् में बहुमत का समर्थन प्राप्त था। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि संसदीय पद्धति में बहुमत-दल केवल सरकार का गठन करता है। देश का शासन सरकार के माध्यम से संसद् द्वारा किया जाता है। इस प्रकार विरोधी दल भी संसद् द्वारा उत्तरदायित्वों के सफल निर्वाह में योगदान करता है, अन्यथा राष्ट्रद्रोह और विरोधी दल के बीच कोई अंतर नहीं रह जायेगा।

कहा जाता है कि एक बार जब पश्चिमी एशिया के एक अतिथि शाहंशाह का ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में विरोधी दल के नेता से परिचय कराया गया, और यह बताया गया कि उसे राजकोष से वेतन मिलता है, तब अतिथि शासक उलझन में पड़ गया। वह यह नहीं समझ पाया कि ऐसे व्यक्ति को, जो सरकार का विरोध करता है, सरकारी कोष से कैसे वेतन दिया जाता है। उसने कहा, "हम तो ऐसे व्यक्ति को गोली मार देना पसन्द करेंगे।" किन्तु, ब्रिटेन में 'हिज मैजेस्टी की सरकार' के अतिरिक्त 'हिज मैजस्टी का विरोध-पक्ष' भी है। सरकार विरोधी दल को केवल सहन ही नहीं करती, बल्कि उसका विश्वास भी करती है। भारत में ऐसा प्रतीत होता है कि सत्तारूढ़ दल विरोधी पक्ष को तभी तक सहन करता है, जब तक उसके अधिकार को हानि नहीं पहुँचती। वह विरोध-पक्ष का विश्वास नहीं करता।

जनतंत्र में सत्ता के प्रति उच्च स्तर की निरासक्ति आवश्यक है। भगवान् राम की भाँति, जनतंत्र में राजनीतिज्ञ को, आह्वान मिलने पर सत्ता स्वीकार करने और क्षति की चिन्ता किये बिना उसका परित्याग कर देने के लिए भी सदा तैयार रहना

चाहिए। एक खिलाड़ी की भाँति उसे विजय के लिए संघर्ष करना चाहिए, किन्तु पराजय के लिए भी तैयार रहना चाहिए। यदि वह पराजय को गौरव के साथ नहीं शिरोधार्य कर सकता, और अपने प्रतिस्पर्द्धी को उसकी विजय के लिए बधाई नहीं दे सकता, तो वह जनतंत्रवादी नहीं है। यही वह भावना थी जिसके साथ चर्चिल ने एटली को और एटली ने एडेन को सत्ता सौंप दी। पर भारत में हमें क्या दिखाई देता है?

यहाँ वस्तुतः अभी तक ऐसी स्थिति नहीं आयी है जब जनता के निर्णय के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण सत्ता कांग्रेस के पास से किसी अन्य दल को हस्तान्तरित की जाय। फिर भी, कुछ राज्यों में कांग्रेस मंत्रिमण्डल हटा दिये गये हैं और प्रतिष्ठा के उपचुनावों में कांग्रेस की पराजय हुई है। कांग्रेसी नेताओं द्वारा—और प्रधानमंत्री द्वारा भी—अभिव्यक्त की गयी प्रतिक्रिया बहुत अच्छी नहीं रही। इस प्रकार, नयी दिल्ली लोकसभाई और कमला नगर (दिल्ली) नगरनिगम उपचुनावों में कांग्रेसी प्रत्याशियों की पराजय के बाद उन लोगों ने जिस प्रकार का आचरण किया, वह इस बात को स्पष्ट प्रकट करता है कि उन लोगों ने अपना सन्तुलन खो दिया है और वास्तव में उनके मस्तिष्क की अजनतांत्रिक प्रवृत्ति ने अपने-आपको बेपर्दा कर दिया है। कभी एक तर्क और कभी दूसरे तर्क के आधार पर जनसंघ पर प्रतिबन्ध लगाने की जो चर्चा चल रही है, वह इस बात की द्योतक है कि जनतंत्र और मूलभूत अधिकारों के प्रति कांग्रेस-नेताओं का कितना आदर है। यह सच है कि इस प्रकार का प्रतिबंध संभव नहीं है, क्योंकि इससे कांग्रेस की स्थिति और खराब हो जायेगी और इसलिए उसकी सफलता के अवसर भी घट जायेंगे, किन्तु उन लोगों के मन में ऐसे विचारों का उदय होना भी जनतंत्र में एक पाप है। सभी राजनीतिक दलों पर प्रतिबन्ध लगानेवाले जनरल अयूब और केवल अपनी रुचि के अनुकूल दलों को ही उनका अस्तित्व बनाये रहने देनेवाले श्री जवाहरलाल नेहरू के बीच क्या अन्तर है? जनतंत्र में यह पसन्द जनता की होती है, शासनकर्ता की नहीं। यदि शासनारूढ़ व्यक्ति इस अधिकार का प्रयोग करने लगे तो वह निरंकुश अधिनायकवाद की स्थिति होगी, जनतंत्र की नहीं।

प्रत्येक व्यक्ति तब तक जनतंत्रवादी होने का स्वांग कर सकता है, जब तक उसे जनसमर्थन प्राप्त है; किन्तु जनतंत्रवादी बने रहने के लिए उस समय गहरी आस्था की आवश्यकता पड़ती है, जब आप हार जायँ। कांग्रेसी तभी तक विश्वस्त कांग्रेसी है,

जब तक उसे कांग्रेस-टिकट मिलता रहे, या इस व्यापक उद्योग में उसे सत्ता में भागीदारी मिलती रहे। किन्तु यदि उसे कहीं टिकट नहीं दिया जाता तो उस महान् (!) संगठन के प्रति उसकी निष्ठा क्षण भर में छू-मन्तर हो जाती है। कांग्रेस-नेता तब जनता के निर्णय के प्रति आदर व्यक्त कर सकते हैं जब वह उनके पक्ष में हो, किन्तु जिस क्षण जनता अपना निर्णय बदल देती है, अनेक प्रकार से उसकी और उसके द्वारा चुने गये प्रतिनिधि की भर्त्सना की जाती है और जनता को कांग्रेस के सामने सिर झुकाने को विवश करने के लिए सभी उपाय उचित समझे जाते हैं। वे लोग जनता की सरकार नहीं चाहते, बल्कि उन्हें विश्वस्त अनुचर जनता चाहिए, जो हर बार कांग्रेस सरकार के लिए मतदान किया करे।

अपने वर्तमान रुख के कारण कांग्रेसजन जनतंत्र के लिए भारी संकट पैदा कर रहे हैं। यहाँ तक कि पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी, जिन्हें सदा एक जनतंत्रवादी समझा जाता रहा है, इस आरोप से नहीं बच सकते। वस्तुतः यह उनके भाषणों एवं उनके सोचने के ढंग का ही परिणाम है कि कांग्रेस अजनतांत्रिक दिशा में बढ़ रही है। यह आवश्यक है कि सभी जनतंत्रप्रेमी इस समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार करें और भारत में किसी कैरन्ट्रो के अभ्युदय के पहले ही निश्चयपूर्वक और प्रभावकारी पग उठायें।

(१० जुलाई, १९६१)

जनतंत्र और राजनीतिक दल

अधिकांश भारतीय जनता जनतांत्रिक जीवन की आकांक्षी है। किन्तु इधर अनेक एशियाई देशों में, जनतांत्रिक सरकारों की विफलता या उनके दबा दिये जाने के कारण भारत में बहुत-से लोग देश में जनतंत्र के भविष्य के बारे में आशंकित हो उठे हैं। आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों के बिगड़ते जाने के कारण कठिन स्थिति का सफलतापूर्वक सामना कर सकने की जनतंत्र की क्षमता के बारे में भी लोगों के मन में सन्देह पैदा हो गया है। ऐसे अनेक लोग हैं, जो 'जो कुछ अपने पास नहीं है उसके लिए तरसते हैं' और अविवेकपूर्ण ढंग से वैकल्पिक स्वरूपों की सरकार की स्थापना की आकांक्षा करते हैं। ऐसे लोग भी हैं जो जनतंत्र में दृढ़ विश्वास के साथ भारत के वर्तमान जनतांत्रिक ढाँचे को ब्रिटिश संसदीय जनतंत्र के बाहरी रूपों का एक घटिया अनुकरण मानते हैं। वे चाहते हैं कि यदि सच्चे जनतंत्र के लक्ष्य की प्राप्ति करनी है, तो सांविधानिक और राजनीतिक व्यवस्था अलग ढंग से गठित की जानी चाहिए।

जनतांत्रिक पद्धति के रूपों और औपचारिकताओं का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो सकता है, परन्तु इस पद्धति के सफल होने की आशा करने के पूर्व कतिपय ऐसी अनिवार्यताएँ भी हैं जिनके बारे में गारण्टी दी जानी चाहिए। उपराष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन ने उड़ीसा विधानमण्डल के नये भवन का उद्घाटन करते हुए अपने भाषण में इन अनिवार्य पूर्वावश्यकताओं की ओर ठीक ही ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने कहा है कि किसी भी देश में अनुशासित राजनीतिक दल और निष्ठावान् तथा देशभक्त नेतृत्व संसदीय जनतंत्र की सफलता के अपरिहार्य अंग है। उन्होंने जनतंत्र को सफल बनाने के लिए स्वतन्त्र समाचार-माध्यम (प्रेस), स्वतन्त्र न्यायपालिका और स्वच्छ एवं सक्षम प्रशासन को भी आवश्यक बताया।

फिर भी, चूँकि जनतांत्रिक सरकार में अंतिम अधिकार निर्वाचित प्रतिनिधियों के पास रहता है, अन्य किसी भी बात से उनका अधिक महत्त्व है, क्योंकि जब तक जनता प्रकट विद्रोह के लिए तैयार न हो, समाचार-तंत्र (प्रेस), न्यायपालिका और प्रशासन को अनुचित उपायों से सत्तारूढ़ दल की इच्छाओं के सामने झुकने के लिए विवश किया जा सकता है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समाचारपत्रों का मुँह बन्द किया जा सकता है, न्यायपालिका के न्यायिक निर्णयों को निष्फल बनाने के लिए

विधान में संशोधन कर उसे दुर्बल बनाया जा सकता है, और प्रशासन को शीर्षस्थ भ्रष्ट नेताओं द्वारा भ्रष्ट बनाया जा सकता है। इसलिए यदि हम देश के कार्यकलाप में सुधार चाहते हैं, तो हमें सर्वप्रथम राजनीतिक दलों की ओर ध्यान देना होगा।

जहाँ तक भारत के राजनीतिक दलों का सम्बन्ध है, उनमें बहुत-सी त्रुटियाँ हैं। इसमें सबसे दोषी सत्तारूढ़ दल है, परन्तु अन्य अनेक दलों का आचरण भी कुछ अच्छा नहीं है। आज राजनीतिक दल सैद्धान्तिक आधार पर नहीं, वरन् व्यक्तिगत या गुट के आधार पर गठित होते हैं। इस सम्बन्ध में डा. राधाकृष्णन कहते हैं, "राजनीति अन्ततः साध्य तक पहुँचने का एक साधन है। यह ऐसी व्यवस्था का निरूपण करती है जिसके द्वारा सबको सामाजिक और आर्थिक न्याय मिले। यदि जनतंत्र केवल यहीं तक अपनी गतिविधियाँ सीमित रखता है कि निर्वाचित प्रतिनिधि केवल सत्ता की होड़ में लगे रहें और पद के पीछे दौड़ते रहें, तथा राज्य के कार्यों को इस प्रकार छोड़ दें कि वह अस्त-व्यस्त हो जाय, तो वह जनतंत्र नाम के लिए भी अच्छा नहीं।" आज राजनीति साधन नहीं रह गयी है। वह स्वयं साध्य बन गयी है। आज हमारे बीच ऐसे लोग विद्यमान् हैं जो निश्चित सामाजिक और राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति करने की दृष्टि से राजनीतिक सत्ता पर ध्यान देने की अपेक्षा केवल सत्ता के लिए होड़ में अधिक व्यस्त हैं। यही कारण है कि विभिन्न राजनीतिक दल जनता को सुसंगठित बनाने और अव्यवस्था में से व्यवस्था का निर्माण करने के स्थान पर वर्तमान अव्यवस्था में केवल और वृद्धि करते हैं। अपने पास आनेवाले लोगों के दृष्टिकोणों की कोई चिन्ता न करते हुए वे केवल इस बात की ओर ही ध्यान देते हैं कि उनके अनुयायियों की संख्या बढ़े।

भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों को अपने लिए एक दर्शन (सिद्धान्त या आदर्श) का क्रमिक विकास करने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें कुछ स्वार्थों की पूर्ति के लिए एकत्र आनेवाले लोगों का समुच्चय मात्र नहीं बनना चाहिए। उनका रूप किसी व्यापारिक प्रतिष्ठान या ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनी (Joint Stock Company) से अलग प्रकार का होना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि दल का दर्शन केवल उसके घोषणापत्र के पृष्ठों तक ही सीमित न रह जाय। सदस्यों को उसे समझना चाहिए और कार्यरूप में परिणत करने के लिए निष्ठापूर्वक जुट जाना चाहिए।

किन्तु हर आदर्श, या चाहे जैसा आदर्श, किसी दल को जनतंत्र का युग लाने में समर्थ नहीं बनायेगा। वह आदर्श स्वयं जनतंत्र के आदर्शों और भावनाओं के विपरीत

नहीं होना चाहिए। वस्तुतः, अनेक देशों में ऐसे लोगों के हाथ से जनतंत्र को बड़ी क्षति उठानी पड़ी है, जिन्होंने जनतंत्र का उपयोग केवल उसे विनष्ट कर देने के लिए किया। कम्यूनिस्टों के पास एक विचारधारा है और वे जनतांत्रिक मार्ग के अनुसरण का दावा करते हैं—केवल अन्ततः जनतंत्र का अन्त कर देने के लिए। डा. राधाकृष्णन के शब्दों में 'व्यक्ति के सम्मान और उसकी स्वतन्त्रता का सिद्धान्त जनतंत्र का मूलभूत सिद्धान्त है। मानवता के इतिहास में मनुष्य की स्वतन्त्र भावना सारी प्रगतियों का कारण रही है। व्यक्ति को नष्ट कर देने की प्रवृत्ति रखनेवाली कोई भी पद्धति अजनतांत्रिक है। विचार-विमर्श, समझा-बुझाकर सहमत करना, परस्पर समाधानकारी समझौता और दो तथा लो, ये जनतांत्रिक मार्ग की युक्तियाँ हैं।" इसलिए ऐसा कोई भी सिद्धान्त, जो अलघ्यीला है तथा जो मानव के सम्मान और स्वातंत्र्य में विश्वास नहीं रखता, वह जनतांत्रिक व्यवस्था के उपयुक्त नहीं होगा। ऐसे दलों को या तो अपने सिद्धान्तों को जनतांत्रिक व्यवस्था के अनुरूप बनाना चाहिए, या जनतंत्र की केवल मौखिक सेवा बन्द कर देनी चाहिए।

दल के कार्यकर्ताओं में अनुशासन का प्रश्न न केवल दल को पूर्ण स्वस्थ रखने के लिए अपितु सामान्य रूप से जनता के आचरण पर भी उसके प्रभाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मुख्यतः सरकार सुरक्षा और संरक्षा का एक साधन है न कि विनाश और परिवर्तन का। जनता में विधान के प्रति समादर की भावना उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि विधान का संरक्षक बनने की आकांक्षा रखनेवाले दल इस दिशा में स्वयं उदाहरण प्रस्तुत करें। स्व-शासन की भावना और क्षमता जनतंत्र का सार है। यदि राजनीतिक दल स्वयं अपने को शासित नहीं कर सकते तो वे समाज में स्व-शासन की इच्छा उत्पन्न करने की आशा कैसे कर सकते हैं? जहाँ एक ओर समाज के लिए व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की प्रतिभूति (गारण्टी) और रक्षा आवश्यक है, वहीं व्यक्ति के लिए भी सर्वसामान्य की इच्छा का स्वेच्छया आदर करना वांछनीय है। यह सहिष्णु भावना जितनी अधिक होगी, राज्य के अदम्य अधिकार उतने ही कम हो जावेंगे। किसी दल में, जिसके कार्यों का किसी सरकारी विधान द्वारा नियमन नहीं होता बल्कि वे दल की इकाइयों द्वारा स्वेच्छया स्वीकृत निर्णयों के अनुसार चलते हैं, इसके उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि सर्वोत्तम व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और सामाजिक उत्तरदायित्व का सन्तुलन किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। इसलिए राजनीतिक दलों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने सदस्यों के लिए एक

आचरण-संहिता निर्धारित करें और उसका कड़ाई से पालन करें।

जनतंत्र में एक से अधिक दलों का होना स्वाभाविक है। ये दल यदि स्वस्थ परम्पराओं का विकास करना चाहते हैं, तो उन्हें किसी न किसी प्रकार के पंचशील का अनुसरण करना चाहिए। सैद्धान्तिक आधार पर किसी दल से सम्बन्ध-विच्छेद को उचित माना जा सकता है, परन्तु अन्य आधारों पर दलों द्वारा दल-बदल को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में, जब कोई दल बहुमत में न आये, या उसे अत्यल्प बहुमत प्राप्त हो, तब अन्य दलों से समर्थन पाने के लिए राजनीतिज्ञों द्वारा अनुचित साधन अपनाये जाने की संभावना है। यह आवश्यक है कि हम ग्रेट ब्रिटेन की द्विदलीय संसदीय पद्धति से कुछ अलग परम्पराएँ विकसित करें और अपनावें। केवल उससे ही देश में स्थिर सरकार रहेगी और भ्रष्ट राजनीतिज्ञों का अखाड़ा बनने से दलों की रक्षा हो सकेगी।

ऐसी बहुत सी बातें हैं जिन पर विचार आवश्यक है। क्या जनतंत्र में विश्वास रखनेवाले दल अपने उत्तरदायित्व को अनुभव करेंगे? सत्ता प्राप्त करने की उत्सुकता और शीघ्रता में उन्हें उस आधार को ही नष्ट नहीं कर देना चाहिए, जिस पर वे खड़े हैं।

(२७ फरवरी, १९६१)

विधायिका-पक्ष बनाम संगठन-पक्ष

उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री डा. सम्पूर्णानन्द ने पदत्याग करने और सार्वजनिक जीवन से अवकाश ग्रहण करने के अपने निश्चय की घोषणा की है। यह मंत्रिमण्डलीय गुट और राज्य-कांग्रेस के असन्तुष्ट सदस्यों के बीच दीर्घकाल से चली आ रही गुटबाजी का परिणाम है। उनको पण्डित नेहरू ने पदत्याग करने का परामर्श दिया है ताकि कांग्रेस-कार्यकर्ताओं में एकता का मार्ग प्रशस्त हो सके। किन्तु सदा की भाँति ही रोग के बारे में पण्डित नेहरू का निदान और उपचार सही नहीं है। इस तथ्य के व्यापक प्रचार के उपरान्त भी कि श्री चन्द्रभानु गुप्त को पण्डित नेहरू ने खड़ा किया है, २६ नवम्बर के प्रातःकाल, जब नये नेता का चुनाव होनेवाला था, उन्हें (श्री गुप्त को) विधायकों का सर्वसम्मत समर्थन नहीं प्राप्त था। कुछ लोगों का ऐसा मत है कि केन्द्र से प्राप्त त्वरित संदेश पर यदि चुनाव स्थगित नहीं हो जाता तो उस दिन वे विजयी नहीं हो सकते थे। अब यह देखना शेष है कि 'कांग्रेस हाई कमान' विधायकों पर अपने द्वारा मनोनीत प्रत्याशी थोपता है, या उन्हें अपना नेता चुनने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देता है।

यद्यपि सदा की भाँति यह संघर्ष व्यक्तिगत ढंग का है, फिर भी, दोनों गुटों ने सत्ता के लिए अपने घटिया लालच को छिपाने के लिए अखाड़े में सिद्धान्त को भी घसीटा है। जबकि श्री सम्पूर्णानन्द और उनके समर्थकों का कहना है कि विधायिका-पक्ष को स्वतन्त्र और केवल विधानमण्डल तथा जनता के प्रति उत्तरदायी रहना चाहिए, असन्तुष्ट गुट इस बात पर बल देता है कि दल के विधानमण्डल से बाहरवाले अंग (संगठन-पक्ष) का सत्तारूढ़ कांग्रेस-सदस्यों पर नियंत्रण रहना चाहिए। यह एक पुराना विवाद है, और इन दोनों के बीच कोई अनभ्र रेखा खींचना कठिन होगा।

आज जो स्थिति चल रही है उसमें दोनों पक्षों की परस्पर भिन्नता समाप्त होती जा रही है और सरकार तथा संगठन अधिकाधिक एक बनते जा रहे हैं। वर्तमान प्रकरण में डा. सम्पूर्णानन्द और श्री चन्द्रभानु गुप्त, दोनों के आधारों में आत्मविरोध का तत्त्व है। जब दलीय चुनाव हो रहे थे, तब डा. सम्पूर्णानन्द ने यह घोषित किया था कि यदि उनके गुट की पराजय हो जायेगी तो वह उनके मंत्रिमण्डल में अविश्वास

माना जायेगा और वे त्यागपत्र दे देंगे। स्पष्ट है कि वे विधायिका से नहीं, वरन् अपने दल से विश्वास-मत चाहते थे। उन्होंने विधायिका-पक्ष को संगठन-पक्ष के अधीनस्थ मान लिया था। यदि मंत्रिमण्डलीय गुट जीत गया होता तो उसके दोनों हाथ लड्डू रहते। वे दोनों अंगों का नियंत्रण करते, और इसलिए दल की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का ढिंढोरा पीटने में किसी त्याग या पद छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु गणित गलत हो गया। राज्य कांग्रेस पर असन्तुष्ट गुट का वर्चस्व हो गया। इसलिए ऐसा प्रतिपादन आवश्यक हो गया है कि विधायिका-पक्ष को समस्त मतदाताओं के प्रतिनिधि के रूप में माना जाय, जनता के एक वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में नहीं। दल का वर्चस्व स्वीकार कर लेने के पश्चात् अब उन्हें उसका आज्ञापालन करना चाहिए।

जब श्री चन्द्रभान गुप्त यह कहते हैं कि दल को विधायक-दल का मार्गदर्शन और नियंत्रण करना चाहिए, तब वे दल को शासक-निर्माता की भूमिका प्रदान करते हैं। वर्तमान में शायद कहीं भी कांग्रेस द्वारा यह भूमिका नहीं अपनायी जाती, परन्तु पहले निश्चित रूप से वह यह भूमिका निभाती थी, और प्रभावकारी ढंग से निभाती थी। कांग्रेस हाई कमान द्वारा मंत्रिमण्डल बनाये गये और भंग किये गये। किन्तु तब से स्थिति में भारी परिवर्तन आ गया है। अब कांग्रेस के हाथ में सरकार को नियंत्रित करने के कोई अधिकार नहीं रह गये हैं। दोनों पक्षों (विधायिका-पक्ष और संगठन-पक्ष) की सापेक्षिक स्थिति का प्रश्न बहुत पहले हल हो गया, जब नेहरू सरकार के विरोध में आचार्य कृपलानी ने कांग्रेस के अध्यक्ष-पद का परित्याग कर दिया और जब राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन को भी उक्त पद से हटने के लिए विवश कर दिया गया। अब कांग्रेस सरकार पर नियंत्रण नहीं रखती, बल्कि सरकार ही कांग्रेस पर नियंत्रण रखती है। अब कांग्रेस-सरकार नहीं रह गयी है, केवल सरकारी कांग्रेस रह गयी है। कांग्रेस-अध्यक्ष सदा प्रधानमंत्री के अधीनस्थ सरीखे रहते हैं।

किन्तु जो बात अखिल भारतीय स्तर पर सही है, वह राज्य-स्तर पर सदैव सही नहीं भी हो सकती। यहाँ, श्री चन्द्रभानु गुप्त मंत्रिमण्डल को राज्य-कांग्रेस का अनुगामी देखना चाहते हैं। पर इसका रहस्य प्रकट हो गया, जब श्री गुप्त मुख्यमंत्री-पद के लिए स्वयं प्रत्याशी बन गये। स्पष्ट है कि अब वे शासक-निर्माता (King-maker) की भूमिका से सन्तुष्ट न रहकर स्वयं ही शासक बनने को उत्सुक हैं। सामने के दरवाजे से प्रवेश पाने में विफल हो जाने पर अब वे पीछे के

दरवाजे से सत्तारूढ़ होना चाहते हैं। यह निश्चय ही संकट को हल करने का तरीका नहीं है। इससे तो संकट और बढ़ेगा। उत्तर प्रदेश का उदाहरण अन्य राज्यों में भी दुहराया जा सकता है। अधिकांश राज्यों में मंत्रिमण्डल और कांग्रेस का संचालन अलग-अलग गुटों द्वारा होता है।

विधायिका-पक्ष को दल का अनुगामी बनाना एक बात है, और दल के नेता को ही विधायिका का नेता बना देना बिल्कुल अलग बात है। यदि ऐसा किया गया तो देश में दल की तानाशाही चलने लगेगी।

दोनों पक्षों के सापेक्षिक महत्त्व का प्रश्न व्यावहारिक प्रश्न है, और उसे केवल सैद्धान्तिक आधार पर हल नहीं किया जा सकता। सिद्धान्ततः, जनतंत्र में जनता की इच्छा सर्वोपरि है और उसके प्रतिनिधियों को उनकी अपनी अन्तश्चेतना, जनमत एवं संविधान के अतिरिक्त अन्य किसी का नियंत्रण नहीं मान्य करना चाहिए। किन्तु, व्यवहार में, दलीय पद्धति के जनतंत्र में, दल के समर्थन के आधार पर ही प्रत्याशी निर्वाचित होता है। बहुधा जनता किसी दल के व्यक्ति की अपेक्षा उस दल का समर्थन करती है। व्यक्ति भी, अपनी स्वयं की इच्छा से दल का अनुशासन स्वीकार करता है। इसलिए वह केवल उस समय जनता के नाम की दुहाई नहीं दे सकता, जब दल के निर्देश का पालन करना उसके लिए असुविधाकारक बन जाय। विशेषतः एक ऐसी पद्धति में, जिसमें प्रतिनिधि को वापस बुला लेने (Recall) की व्यवस्था नहीं है, चुनाव के बाद दल ही विधायक के आचरण को नियमित रख सकता है। अगला चुनाव होने तक जनता निरुपाय रह जाती है।

फिर भी, यदि दल जनता के हित में अपने अधिकार का प्रयोग करना चाहता है तो दूर्वांकुर के समान उसकी जड़ें सर्वत्रव्यापी होनी चाहिए। वर्तमान दशा में जनता कहीं चित्र में नहीं है। वस्तुतः उन लोगों के गुट-संघर्षों के कारण, जो जनता का प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं, जनता को कष्ट सहन करना पड़ता है। प्रधानमन्त्री ने लगभग एक पखवाड़ा पहले भोपाल में भाषण करते हुए निराशा और क्रोध की भावना से प्रेरित होकर कांग्रेस को भंग कर देने का परामर्श दिया था। उनका कहना था कि यदि संकट का निवारण नहीं किया जा सकता, तो दल को भंग कर देना चाहिए। किन्तु पराजयवादी और निराशा की भावना से अपनाया गया कोई भी पग देश के लिए सहायक नहीं होगा। यह सही है कि कांग्रेसजन भंग करने के प्रस्ताव को अंगीकार नहीं करने जा रहे हैं, परन्तु जिस प्रकार वे आचरण कर रहे हैं, उससे

ह्रास और विनाश का ही मार्ग प्रशस्त हो रहा है। जिनका जनतंत्र में विश्वास है, उनको अपना उत्तरदायित्व अनुभव करना चाहिए और रिक्तता की पूर्ति अकर्मण्य लोगों को न करने देकर जनता के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह करने के लिए स्वयं आगे आना चाहिए।

(५ दिसम्बर, १९६०)

आपका मत (१)
उपयुक्त प्रत्याशी कौन है?

अगले आम चुनावों के लिए चुनाव-आयोग द्वारा घोषित कार्यक्रम की सरकार द्वारा पुष्टि कर दी गयी है। ज्योतिषी चाहे जो भविष्यवाणी करें, जनता और राजनीतिक दलों को इस महान् जनतांत्रिक चुनौती का सामना करने की गंभीरतापूर्वक तैयारी करनी चाहिए। जबकि कुछ पुराने दलों, विशेषकर कांग्रेस को, विभिन्न गुटों और साम्प्रदायिक दलों के परस्परविरोधी दावों की पूर्ति के लिए एक सम्मत सूत्र (फार्मूला) तैयार करने में बहुत कठिनाई हुई, अपेक्षाकृत नये दलों को अपने चुनाव-चिह्नों पर चुनाव लड़ने के लिए 'उपयुक्त प्रत्याशी' ढूँढ़ने के लिए दौड़-भागकर प्रयत्न करने पड़े। 'उपयुक्त प्रत्याशी' ऐसा शब्द है जिसकी समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती, पर जिसे लोग अच्छी प्रकार से समझते हैं। फिर भी, देश और दलों के राजनीतिक स्वास्थ्य की सही जानकारी के लिए ऐसे प्रत्याशी के कुछ मुख्य गुणों पर विचार करना आवश्यक है।

सामान्य ज्ञानवाले व्यक्ति की दृष्टि में 'उपयुक्त प्रत्याशी' उसे कह सकते हैं जो विधानमण्डल में अपने दल के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व कर सके, जो अपने निर्वाचन-क्षेत्र की सेवा करता रहा हो, और जो उस निर्वाचन-क्षेत्र की जनता की भावनाओं की अभिव्यक्ति कर सके। एक व्यक्ति के रूप में उसे जनता के प्रति कर्तव्यनिष्ठ होना चाहिए, और जिस दल का उसे प्रतिनिधित्व करना है उसके सदस्य के नाते उसे अनुशासित तथा उसके उद्देश्यों के प्रति निष्ठावान् होना चाहिए। यदि उसमें कोई अन्य गुण भी है, तो उससे उसका स्तर और ऊँचा उठेगा, पर वे उपयुक्तता के इन मूलभूत अंगों का स्थान नहीं ले सकते।

किन्तु भारतवर्ष में शायद ही कोई राजनीतिक दल इन बातों की चिन्ता करता है। वे केवल एक ही दृष्टि से विचार करते हैं, और वह यह कि उनका प्रत्याशी ऐसा हो जो चुनाव में विजय प्राप्त कर सके। घुड़दौड़ देखने जानेवालों की भाँति उनका किसी विशेष घोड़े के प्रति प्रेम नहीं होता। वे किसी ऐसे घोड़े पर बाजी लगा देंगे, जिसके जीतने के उज्ज्वल अवसर हों। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि राजनीति में

विजेता के प्रति उनका साथ घुड़दौड़ के बाद समाप्त नहीं हो जाता। उन्हें सतत् बोझ ढोना है, और उसके माध्यम से ही दल को विधानमण्डलों तथा निर्वाचन-क्षेत्र में कार्य करना होगा।

आज के अधिकांश राजनीतिक दलों की जड़ें फैलती नहीं हैं। कांग्रेस पार्टी का, जो एक दिन अक्षरशः जनता की पार्टी (दल) थी, अब जनसमूह पर कोई प्रभाव नहीं रह गया है। नये दलों को अपने को जनप्रिय बनाने के लिए अभी कठोर कार्य करना है। इन परिस्थितियों में जनाकर्षण के लिए दल के अतिरिक्त किसी अन्य प्रेरणा-केन्द्र का प्रयोग करना पड़ेगा। यही कारण है कि भूतपूर्व राजाओं को प्रत्येक दल हाथोंहाथ ले रहा है। यहाँ तक कि चुनाव में किसी राज-परिवार के सदस्य का विरोध करने में मंत्री भी हिचकिचाहट अनुभव करते हैं। और, यदि वे कांग्रेस के साथ चले जाते हैं तो अन्य विरोधी प्रत्याशी अपनी विजय की आशा धूमिल समझने लगते हैं।

यह मान्य करते हुए भी कि भूतपूर्व राजाओं को भी चुनावों में भाग लेने का नागरिक अधिकार है, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वर्तमान स्थिति सुखकर नहीं है। स्थिति में भूतपूर्व राजाओं द्वारा नहीं बल्कि जनता द्वारा और विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा सुधार किया जा सकता है। भूतपूर्व राजाओं को राजनीति में भाग लेने के लिए निश्चित रूप से प्रोत्साहन देना चाहिए, परन्तु चुनाव में उन्हें राजपरिवार में जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि गुणों के आधार पर टिकट दिया जाना चाहिए। जनता को भी यह अनुभव करना चाहिए कि मत किसी प्रत्याशी के प्रति कृतज्ञताज्ञापन का माध्यम नहीं है, बल्कि उसकी इच्छाओं को क्रियान्वित करने का एक आदेशपत्र है।

प्रत्याशियों के चुनाव में जातीय और साम्प्रदायिक विचार भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस दिशा में कांग्रेस सबसे बड़ा अपराधी है, परन्तु अन्य दल भी इस लांछन से बच नहीं सकते। इसका कारण भी किसी दृढ़ और ठोस संगठन का अभाव है। जातीयता की गाली देने से कोई लाभ नहीं। जो लोग उसे गाली देते हैं, वे अप्रत्यक्ष रूप से उसको बल देते हैं। भारत में हर व्यक्ति किसी न किसी जाति या समुदाय का अंग है। दूसरे पर जातीयता या साम्प्रदायिकता में लिथड़े होने का आरोप लगाकर आप एक परोक्ष संकेत प्रसारित करते हैं और शेष समाज में भी इन भावनाओं को उभड़ने की अचेतन तथा सूक्ष्म प्रेरणा देते हैं। गत चुनावों में प्राप्त

अनुभवों से प्रकट है कि जिन प्रत्याशियों ने जातीयता की भावना उभाड़ने का प्रयत्न किया, उन्होंने शेष लोगों को अपने विरुद्ध एवं संयुक्त बना लिया और उनका संयुक्त विरोध प्रारम्भ हो गया, जिससे वे बुरी तरह हार गये। किन्तु अभी भी राजनीतिक दलों में उक्त विचार के लिए बहुत स्थान है। यदि प्रत्याशी में अन्य मूलभूत गुण विद्यमान हैं, तो मैं उसकी जाति की चिन्ता नहीं करता। वह—कम से कम भारत में—जातिविहीन तो हो नहीं सकता। किन्तु यदि स्थिति इस सीमा तक पहुँच जाती है कि डा. राममनोहर लोहिया तक को केवल इसलिए प्रत्याशी बनने से वंचित रह जाना पड़ा क्योंकि वे उस जाति के नहीं थे जिसके सदस्यों की उस निर्वाचन-क्षेत्र में बहुत अधिक संख्या थी (यह घटना कुछ समय पहले, उत्तरप्रदेश के एक उपचुनाव के समय घटित हुई), तो यह एक गंभीर रोग का सूचक है। इसका उपाय दल-संगठन को सशक्त बनाना है, न कि जातीय भावना को घनीभूत करना जैसा कि समाजवादी डाक्टर पिछड़ी जातियों और वर्गों के लिए साठ प्रतिशत स्थान आरक्षित रखने की प्रतिज्ञा करके कर रहे हैं।

आर्थिक स्पर्द्धा भी प्रत्याशी के चुनाव को प्रभावित करनेवाली एक बड़ी समस्या है। अनेकानेक लोगों को किसी अन्य योग्यता पर नहीं, बल्कि धन खर्च करने की क्षमता के कारण टिकट दिये जाते हैं। ये लोग चुनाव के अवसर पर मैदान में आते हैं, और उसके बाद पाँच वर्ष तक कलकत्ता और बम्बई की घनी बस्तियों में आराम करते रहते हैं। वे लोग जनता के पास मत की याचना करने नहीं, बल्कि उन्हें खरीदने आते हैं। वे लोग दल के टिकट के लिए न याचना करते हैं और न उसके लिए आवश्यक योग्यता रखते हैं, बल्कि वे टिकट की खरीद करते हैं। उनके लिए कोई भी मूल्य अधिक नहीं। वे केवल यही चाहते हैं कि संसद् के लिए उनका मार्ग सुगम हो जाय। उनके लिए यह एक व्यापारिक सौदा है। दलों के पास, जिनमें कांग्रेस भी सम्मिलित है, इतना अर्थाभाव है कि वे अधिकार और प्रसिद्धि के भूखे इन आकांक्षियों को अनुगृहीत करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। ऐसी सूचना मिली है कि कांग्रेस ने कलकत्ता में कुछ उद्योगपतियों से यह सौदा किया है कि वह उन्हें कुछ संसदीय स्थानों के लिए टिकट प्रदान करने को तैयार है, बशर्ते कि वे विधानसभा के प्रत्याशियों का चुनाव-व्यय वहन करने का वचन दें। स्वतन्त्र पार्टी पर दलाल स्ट्रीट*

* दलाल स्ट्रीट में बम्बई का शेयर बाजार स्थित है, जहाँ बड़े-बड़े व्यापारी और उद्योगपति प्रतिदिन लाखों रुपये का सट्टा-सौदा करते रहते हैं।

की पार्टी होने का बहुश्रुत आरोप लगाया जाता है। दलों के सामने आर्थिक कठिनाई इतनी अधिक है कि केवल उसी कारण गणतंत्र परिषद् ने स्वतंत्र पार्टी में मिल जाने का निर्णय किया है।

ये सारी ऐसी समस्याएँ हैं, जिनसे देश की राजनीति को अवांछित दिशा-निर्देश मिल जाने की संभावना है। यदि स्थिति में सुधार करने के लिए समुचित पग नहीं उठाये गये, तो देश के विधानमण्डलों में एक सशक्त वर्ग उभरेगा और तब केवल जनता के कल्याण और राष्ट्रीय हितों के संवर्द्धन को विचार में रखकर वहाँ शायद ही कोई रचनात्मक राजनीतिक निर्णय हो सके। बड़े दल के रूप में विकसित होने के इच्छुक दलों को इस दिशा में सतर्क रहना चाहिए कि तात्कालिक लाभ के लिए वे सिद्धान्तों का बलिदान न करें। जनता का भी एक कर्तव्य है, और यदि लोग सुविचारित तथा बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से अपने मताधिकार का उपयोग करें तो वे राजनीतिक दलों के विकृत दृष्टिकोण को भी ठीक कर सकते हैं।

- मतदाता को शिकायत नहीं करनी चाहिए, बल्कि उसे प्रभुत्व स्थापित करना चाहिए। उसे याचना नहीं करनी चाहिए, उसे तो माँग करनी चाहिए। उसे असन्तोष या ईर्ष्या नहीं प्रदर्शित करनी चाहिए, बल्कि धैर्य और दृढ़ता दिखानी चाहिए। मतदाता को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह किसी सिद्धान्त के लिए मतदान करता है न कि किसी दल के लिए, कि वह किसी दल के लिए मतदान करता है न कि किसी व्यक्ति के लिए, कि वह किसी व्यक्ति के लिए मतदान करता है न कि थैली के लिए।
- आपको उद्देश्य पर विचार करना चाहिए, जाति पर नहीं। संभावित विजेता का साथ न देकर योग्य प्रत्याशी का साथ दीजिए। पहले सही मनुष्य का चुनाव करें, और तब यह प्रयत्न करें कि आपका चुना हुआ प्रत्याशी विजयी हो। वह आपकी विजय होगी। यदि आप केवल उस प्रत्याशी के, जिसने यह छाप डाल रखी है कि वह जीत जायेगा, मात्र अनुगामी के रूप में जाते हैं, तो चुनाव-परिणाम चाहे जो भी निकले, आप तो पहले ही हार चुके होते हैं।
- मत का सम्बन्ध अन्तश्चेतना से है। उसे बेचिए नहीं। उसे नष्ट न कीजिए।
- जब आपको मतदान करना हो तो आप महत्त्वपूर्ण निर्णय कर रखिए। कृपया मत डालने के क्षण में निर्णय मत लीजिए।
- मतदान का अधिकार सामाजिक उपयोग के लिए व्यक्तिगत अधिकार है। वह

आपकी स्वतन्तता का द्योतक है। उसका स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग कीजिए। यदि आप जनतंत्रवादी हैं तो आप अपनी अन्तश्चेतना के अतिरिक्त किसी के आदेशानुसार मतदान न कीजिए। राजनीतिक दल, जो जनता के लिए कार्य करते हैं, जनता के बल पर ही खड़े होते हैं। यदि जनता यह चाहती है कि उन्हें कोई झुकाने न पाये, तो जनता को उन्हें अपनी शक्ति प्रदान करनी चाहिए। जनता ही राजनीतिक दलों, और उनके माध्यम से राजनीतिक लक्ष्य की शिल्पी है।

जनता को अपने सामने उपस्थित महान् कसौटी पर खरा उतरना चाहिए।

(४ दिसम्बर, १९६१)

आपका मत (२)
प्रत्याशी, दल और सिद्धान्त, सभी महत्त्वपूर्ण

अब चूँकि सभी द्विसदस्यीय निर्वाचनक्षेत्रों को विभाजित कर दिया गया है, आपको लोकसभा और विधानसभा के लिए एक-एक मत (Vote) देना है। चुनाव-मैदान में खड़े अनेक प्रत्याशियों में से आपको एक को चुनना है। यह एक ऐसा कार्य है, जिसके द्वारा आप विभिन्न प्रतिस्पर्द्धियों को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। अंतिम निर्णय कई समस्याओं के सतर्क और सही मूल्यांकन पर निर्भर रहता है। प्रत्याशी, दल, और उसका सिद्धान्त, इन सभी पर विचार करना पड़ता है। कोई बुरा प्रत्याशी केवल इसलिए आपका मत पाने का दावा नहीं कर सकता कि वह किसी अच्छे दल की ओर से खड़ा है। बुरा बुरा ही है और दुष्ट वायु की कहावत की भाँति वह कहीं भी और किसी का भी हित नहीं कर सकता। दल के 'हाई कमान' ने ऐसे व्यक्ति को टिकट देते समय पक्षपात किया होगा, या नेकनीयती बरतते हुए भी वह निर्णय में भूल कर गया होगा। अतः ऐसी गलती को सुधारना उत्तरदायी मतदाता का कर्तव्य है।

एक समय ऐसा था कि कांग्रेस के टिकट पर खड़े होने पर सड़क के बत्ती के खम्भे (लैम्प पोस्ट) को भी जनता मत दे सकती थी। प्रथम आम चुनाव में आचार्य नरेन्द्रदेव और आचार्य कृपलानी जैसे दिग्गज नेता ऐसे कांग्रेसी प्रत्याशियों के हाथों पराजित हो गये, जिनकी इनकी तुलना में कोई हस्ती नहीं थी। अब सड़क के खंभे वाला युग बीत गया है। किन्तु ऐसी संभावना भी है कि घड़ी का दोलक (पेण्डुलम) दूसरी दिशा में झुक जाय। एक सज्जन ने हाल ही में यह उद्‌गार व्यक्त किया कि वे कांग्रेसी प्रत्याशी के बदले 'मील के पत्थर' के लिए मतदान करना पसन्द करेंगे। चाहे आप कांग्रेस में अपने विश्वास के कारण 'सड़क के खम्भे' का चुनाव करें या कांग्रेस के प्रति अपनी घोर घृणा के कारण 'मील के पत्थर का', आप समान रूप से गलत हैं। यह मस्तिष्क के रोगी होने एवं मार्गच्युत होने का द्योतक है।

बताया जाता है कि अभी हाल ही में कांग्रेस-अध्यक्ष ने कहा है कि कांग्रेस में जो सबसे खराब है, वह भी विरोध-पक्ष के सर्वश्रेष्ठ से अच्छा है। यह मुझे मौलाना शौकत अली की याद दिलाता है, जिन्होंने कहा था कि निष्कृष्टतम मुसलमान भी

उनकी दृष्टि में महात्मा गांधी से अच्छा है। कोई भी विवेकशील व्यक्ति इन मनोवृत्तियों का समर्थन नहीं कर सकता। जो मतदाता किसी प्रतिक्रिया के आधार पर मतदान करता है, वह भी इसी श्रेणी में आता है। वह अपने निर्णय को अस्वस्थ प्रतिक्रियाओं से आविष्ट कर लेता है।

न तो 'मील के पत्थर' को चुनिए, न 'सड़क के खम्भे' को। वे आपका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। यदि वे सदन में पहुँच गये तो वे विवेकपूर्वक विचार करने और निर्णय करने की आपकी अक्षमता को ही प्रतिभासित करेंगे। इसलिए आप अपना स्वयं का प्रतिनिधि चुनिए।

आपको एक अच्छा मनुष्य चाहिए। किन्तु अच्छा मानव भी किसी बुरे दल में रहकर प्रभावकारी नहीं सिद्ध होगा। बड़ा से बड़ा वीर भी टूटे या भोथरे हथियार के सहारे सफल नहीं होगा। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का उदाहरण पर्याप्त है।

किन्तु अच्छा दल कौन है? स्पष्ट ही वह, जो व्यक्तियों का केवल एक समुच्चय मात्र नहीं है, बल्कि सत्ता हस्तगत करने की इच्छा से अलग एक विशिष्ट उद्देश्य से युक्त अस्तित्ववाली संस्था है। ऐसे दल के सदस्यों के लिए राजनीतिक सत्ता साध्य नहीं, साधन होनी चाहिए। दल के छोटे-बड़े सभी कार्यकर्ताओं में किसी उद्देश्य के प्रति निष्ठा होनी चाहिए। निष्ठा से स्वार्पण और अनुशासन की भावना आती है। अनुशासन का अर्थ केवल कतिपय कार्य करने या न करने की बाह्य एकरूपता नहीं है। ऊपर से आप जितना ही अनुशासन लादेंगे, दल की आंतरिक शक्ति उतनी ही कम होगी। राजनीतिक दल के लिए अनुशासन का वही स्थान है, जो समाज के लिए धर्म का।

यदि कार्यकर्ताओं में निष्ठा और अनुशासन की भावना रहेगी तो दल के अन्दर कोई गुट या मतभेद नहीं होगा। जब दल का हित स्वहित के आगे दब जाता है, तब गुटबाजी प्रारम्भ हो जाती है। यह अहंकारी एवं विकृत चिन्तन की सामाजिक अभिव्यक्ति है। मतभेदों से जर्जर दल अप्रभावकारी बन जाता है और कार्य करने की सारी क्षमता खो देता है।

एक अच्छे दल का तीसरा गुण यह है कि उसे कतिपय आदर्शों से आबद्ध होना चाहिए और उसकी सारी नीतियाँ उन्हीं आदर्शों की उपलब्धि के दृष्टिकोण से तैयार की जानी चाहिए। यह सच है कि प्रशासन का अति व्यावहारिक कार्य स्थितियों के

सैद्धान्तिक विश्लेषण पर आधारित नियमों के साथ मेल नहीं खा सकता। किन्तु स्वार्थसाधकता और अवसरवादिता को 'यथार्थवाद' का स्थान नहीं मिलना चाहिए। आदर्शवादी, सिद्धान्तवादी और प्रेरणापन्न व्यक्ति का यथार्थवाद एक सद्गुण है; वह छिछली मनोवृत्ति वाले, अवसरवादी तथा दोलायमान व्यक्ति की विशेषता नहीं है। राजनीतिक दल और नेता अपने व्यवहार के द्वारा राजनीतिक जीवन के मूल्य निर्धारित करते हैं; वे मानदण्डों की स्थापना करते हैं। स्वाभाविकतया ही, उनकी नीतियों को किसी भी स्थिति में जनव्यवहार के इन मानकों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। जनतंत्र का अर्थ मात्र चुनाव नहीं है। इसके लिए सुसंगठित जनता, सुगठित दलों तथा राजनीतिक व्यवहार की सुव्यवस्थित परम्पराओं की आवश्यकता होती है।

एक अच्छे दल को एक अच्छे प्रत्याशी-समूह के साथ अच्छे और यथार्थवादी कार्यक्रम भी रखने चाहिए। अन्ततः कार्यक्रम का ही क्रियान्वयन होना है। अच्छे लोग भी बुरे कार्यक्रम या अव्यावहारिक कार्यक्रम के साथ जनता के कष्टों को दूर करने में सहायक नहीं होंगे। इसके विपरीत वे और अधिक कठिनाइयाँ पैदा करेंगे।

इन तीनों बातों पर एकीकृत ढंग से विचार करना चाहिए। सभी पहलुओं से आदर्श की प्रस्थापना कठिन हो सकती है। किन्तु तीनों का यथासंभव अधिकाधिक संयोजन किया जा सकता है। अच्छे उद्देश्यवाले व्यक्ति, जो परोपकार की भावना से प्रेरित हों, और अनुशासित हों, ऐसे कार्यक्रम की कमी बहुत कुछ दूर कर सकते हैं जो सर्वथा अस्वीकार्य (या अव्यवहार्य) सिद्धान्तों पर आधारित न हो। यदि दल अनुचित दिशा में जा रहा हो, तो कितनी भी अच्छाई या कार्यदक्षता स्थिति में सुधार नहीं ला सकती। दिशा-निर्धारण के बाद स्थिति को सही एवं सुदक्ष ढंग से हाथ में लेकर गति को तीव्रता प्रदान की जा सकती है।

जहाँ तक प्रत्याशियों का प्रश्न है, व्यक्तिगत आधार पर विचार करना संभव नहीं है। मतदाता उनको अधिक अच्छी प्रकार से जानता है। जहाँ तक दलों का सम्बन्ध है, यह सच है कि भारत के अधिकांश राजनीतिक दल दल की परिभाषा के अनुरूप नहीं ठहरते। कांग्रेस सबसे बड़ा और विस्तृत दल है। किन्तु इसके पास राजसत्ता के अतिरिक्त अपने कार्यकर्ताओं को बाँधकर रखनेवाली अन्य कोई शक्ति नहीं है। इसमें किसी भी अन्य दल की अपेक्षा 'यह करो' और 'यह मत करो' की व्यवस्था अधिक है। किन्तु इसके सदस्यों में अनुशासन की तथा स्वेच्छया समर्पण की प्रेरणा बिल्कुल नहीं है। फिर भी, इसने अब तक कृत्रिम ढंग से पर्याप्त अनुशासन बनाये

रखा है। किन्तु ऐसे लक्षण दिखाई दे रहे हैं कि यह बलात् अनुशासन अधिक समय तक नहीं टिकेगा।

कांग्रेस में व्याप्त गुटबाजियों की चर्चा करना आवश्यक है। दो बैल हर स्तर पर दो गुट होने के स्पष्ट प्रतीक है। यहाँ तक कि केन्द्र में भी दल के उपनेता के बारे में निश्चय नहीं किया जा सका। वह गम्भीर रोग का सूचक है।

ऐसे दल भी हैं जो भूतपूर्व कांग्रेसियों द्वारा गठित किये गये हैं और जो कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में से ही सदस्य-प्राप्ति के लिए निर्भर हैं। वे अधिकांशतः रुष्ट और असन्तुष्ट तत्त्वों से ही बने हैं। उनके लिए अनुशासन का कोई प्रश्न नहीं उठता।

कम्यूनिस्ट पार्टी निश्चित रूप से एक दल है। यदि उसके पास एक सिद्धान्त नहीं होता तो वह बिल्कुल अप्रभावकारी सिद्ध हुई होती। फिर भी, देशद्रोह निष्ठा के कारण ऐसा सुसंगठित दल देश के लिए कहीं अधिक घातक बन जाता है। इसको प्रेम और समर्थन नहीं दिया जा सकता। इसका पर्दाफाश होना चाहिए, और इसे समाप्त कर देना चाहिए।

जहाँ तक जनसंघ का सम्बन्ध है, मैं केवल यही कहना चाहूंगा कि हम एक सुसंगठित, अनुशासित और निष्ठावान् दल के रूप में विकसित होने का प्रयत्न करते रहे हैं। इस मार्ग को अपनाने के कारण समय-समय पर हमारी आलोचना होती रही है। इस दल को उन लोगों ने पसन्द नहीं किया, जो जनसंघ को प्रजा-समाजवादी दल के ढाँचे पर एक 'भगवान-भरोसे' का दल देखना चाहते थे। जनसंघ कृतसंकल्प है, और इस दिशा में अपनी लघु दौड़ में इसने चाहे जो प्रत्यक्ष हानि सहन की हो, कुल मिलाकर इसने संगठन का स्वास्थ्य ठीक रखने और जनता में इसे अधिकाधिक प्रिय बनाने में सफलता प्राप्त की है। सभी प्रकार के अवसरवादी तत्त्वों के साथ गठजोड़ की चेष्टा करने की अपेक्षा दृढ़ता और सच्चाई से अधिक लाभ होता है।

(११ दिसम्बर, १९६१)

आपका मत (३)
परिवर्तनेच्छु और अपरिवर्तनेच्छु

चुनाव-गठबंधन से जनता में नकारात्मकता की भावना पैदा होती है। यह उचित नहीं है। गठबन्धनों का निश्चित रूप से अर्थ है सिद्धान्तों का समझौता, और गठबन्धनों से कुछ मात्रा में देश के अवसरवादी तत्त्वों को सहायता मिलती है। इनसे बचना चाहिए। सारी राजनीतिक गतिविधियों की अंतिम परिणति अर्थात् सत्ता-प्राप्ति की दिशा में जनतंत्र में कई सीमाएँ होती हैं। यह गोली के प्रयोग को तो परित्याज्य बताता है, परन्तु मतपेटी के संघर्ष में भी सबकुछ उचित नहीं माना जा सकता।

यह सोचना भी गलत है कि कांग्रेस को पराजित करने के लिए सभी दलों का एक संयुक्त मोर्चा आवश्यक है। गत चुनावों के मत-विश्लेषण से उक्त निष्कर्ष नहीं निकलता। कांग्रेस के साथ सीधे संघर्ष में, उन कुछ अपवादों को छोड़कर जहाँ जनभावना अत्यन्त विक्षुब्ध थी, मोटे तौर पर गैर-कांग्रेसी प्रत्याशियों की पराजय हुई है। आज कांग्रेस को पराजित करने के लिए सभी विरोधी दलों के संयुक्त मोर्चे की नहीं, बल्कि अकेले एक दल के ठोस कार्य की आवश्यकता है। यदि अल्पसंख्यकों के मतों के आधार पर खड़ी कांग्रेस जीत सकती है, तो अन्य दल भी जीत सकते हैं। गत आम चुनाव में केरल में कम्यूनिस्टों ने कोई संयुक्त मोर्चा बनाये बिना ही कांग्रेस को पराजित कर दिया।

दलों की संख्या में कमी और ध्रुवीकरण की आवश्यकता हो सकती है। परन्तु ध्रुवीकरण के लिए एक धुरी आवश्यक है। अभी तक कोई दल वह स्थिति प्राप्त करने का दावा नहीं कर सकता। सैद्धान्तिक आधार पर जनसंघ और कम्यूनिस्ट पार्टी वह धुरी बन सकते हैं, जिनके चारों ओर राष्ट्रवादी एवं अराष्ट्रवादी एकत्र हो सकते हैं। संगठनात्मक दृष्टि से अभी तक दोनों पक्षों के बहुत से दलों ने इस अधिकार को मान्य नहीं किया है। केवल जनता ही ऐसे दलों के पक्ष में, जो जनता के सिद्धान्तयुक्त संगठन का आधार बन सकें, अपनी सारी शक्ति से योगदान देकर ध्रुवीकरण की इस प्रक्रिया में सहायक बन सकती है। इसलिए उसे अपनी शक्ति और मत (वोट) को बिखरने नहीं देना चाहिए।

विभिन्न राजनीतिक दलों के चुनाव-घोषणापत्रों पर विचार करने से पूर्व सामान्य रूप से उनके सैद्धान्तिक आधारों का विश्लेषण कर लेना उपयोगी होगा। केवल वैसा करने से ही हम घोषणापत्रों के बीच के अन्तर को समझ सकेंगे और उनमें लिखी पंक्तियों के निहितार्थ और उल्लिखित कार्यक्रमों तथा दिये वचनों का सही मूल्यांकन करने में सफल हो सकेंगे। विभिन्न दलों द्वारा प्रयुक्त एक ही प्रकार के शब्दों और वाक्यांशों का एक ही अर्थ नहीं होगा। सामान्य व्यक्ति के लिए शून्य का अर्थ 'कुछ नहीं' होता है, परन्तु गणितज्ञ के लिए वैसा नहीं होता। अदृश्य कड़ियों को भी दलों के पिछले कार्यकलापों तथा सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों के आधार पर ही पाया जा सकता है, क्योंकि अधिकांश दलों के चुनाव-घोषणापत्रों में विवरण का भारी अभाव रहता है।

पश्चिमी देशों में राजनीतिक दलों को सामान्यतया 'दक्षिणपंथी' (Rightist) या 'वामपंथी' (Leftist) कहकर पुकारा जाता है। भारत में भी विभिन्न राजनीतिक दलों की विशिष्टताओं और उद्देश्यों को सूचित करने के लिए इस शब्दावली को अधिकाधिक मात्रा में प्रयुक्त किया जाने लगा है। किन्तु यह श्रेणी-विभाजन भारत की राजनीति की सही कल्पना नहीं देता। हम ऐसा केवल इसलिए नहीं कहते कि यहाँ ऐसे दल हैं जो अति-दक्षिण से लेकर अति-वाम के बीच के विविध विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं, बल्कि इसलिए कहते हैं कि इन दलों के अनेक कार्यक्रम इस रूढ़ आधार पर विभक्त किसी भी श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आते।

कांग्रेस जहाँ तक अर्थव्यवस्था की समाजवादी संरचना का उद्देश्य रखती है, उसे एक वामपंथी दल कहा जा सकता है; किन्तु वह निहित स्वार्थवालों का जिस प्रकार समर्थन करती है, और उनसे जो समर्थन प्राप्त करती है, वह उसे अनुदारवादी रंग दे देता है। जनसंघ को दक्षिणपंथी पुकारा जा सकता है, क्योंकि वह समाजवाद के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखता, परन्तु अपने कार्यक्रम और कार्यकर्ता-संवर्ग के कारण वह निश्चित रूप से देश के कुछ तथाकथित प्रगतिशील दलों से भी अधिक प्रगतिशील है।

यदि हम पाश्चात्य शब्दावली को छोड़ दें, तो भारत में राजनीतिक दलों को उनके प्रेरणास्रोत के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। अधिकांश दल भारत की राजनीति को कुछ विदेशी साँचे में ढालना चाहते हैं। उनका सैद्धान्तिक आधार पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन से उद्भूत है। कांग्रेस, कम्यूनिस्ट, प्रजा-समाजवादी,

समाजवादी और स्वतंत्र, ये सभी दल इसी श्रेणी में आते हैं।

इन दलों के बीच वैसे चाहे जो अन्तर हो, किन्तु ये सभी भारतीय जीवन में विदेशी राजनीति समाविष्ट करना चाहते हैं। ये दल मौलिक रूप से सोचने या अपने देश के मूलभूत चिन्तन-मूल्यों पर विचार करने से इन्कार कर देते हैं। इनमें से कुछ दल केवल इतना मान्य करते हैं कि पश्चिमी आदर्शों और भारतीय संस्कृति का एकीकरण हो। वे भारतीय पृष्ठभूमि में पाश्चात्य राजनीतिक चित्र चाहते हैं। भारत की राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण करते समय वे विदेशी विश्लेषणों के निष्कर्षों को बिना हिचकिचाहट सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। कम्यूनिस्ट लोग रूस में विकसित मार्क्सवाद के विशुद्ध रूप के आकांक्षी हैं।

कांग्रेस, प्रजा-समाजवादी और समाजवादी, ये सभी दल राष्ट्रीय निष्ठा और समाजवादी सिद्धान्तों के बीच त्रिशंकु के समान लटके हुए हैं। वे जनतंत्र की उपेक्षा नहीं कर पाते और किसी न किसी प्रकार जनतंत्र और समाजवाद, इन दोनों दर्शनों का मिश्रण करना चाहते हैं। स्वतन्त्र पार्टी समाजवाद की विरोधी है। परन्तु, वह यह नहीं जानती कि बदनाम पूँजीवाद के अतिरिक्त समाजवाद का और भी कोई विकल्प हो सकता है।

दूसरी ओर, ऐसे दल हैं जो भारतीय संस्कृति और भारतीय जीवन के शाश्वत मूल्यों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं और जो पश्चिमी रीति-नीति तथा आदर्शों को अंध भाव से अंगीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। जनसंघ और रामराज्य परिषद् इसी श्रेणी में हैं। इन दोनों में रामराज्य परिषद् अधिक रूढ़िवादी ढंग की है, और वह सभी प्रकार के आर्थिक तथा सामाजिक सुधारों की विरोधी है। जनसंघ न केवल सामाजिक क्षेत्र में दयानन्द और तिलक की सुधारवादी परम्परा का अनुसरण करता है, अपितु वह आर्थिक समस्याओं तक भी उसका विस्तार करने के लिए सचेष्ट है।

इस प्रकार हम एक और श्रेणी-विभाजन कर सकते हैं—'परिवर्तनेच्छु' और 'अपरिवर्तनेच्छु'। रामराज्य परिषद् और स्वतन्त्र पार्टी अपरिवर्तनेच्छु हैं। बल्कि वे गत १४ वर्षों में हुए परिवर्तनों को भी उलट देना चाहेंगी। उनकी दृष्टि में आज की या ब्रिटिश शासनकाल की सांस्थानिक व्यवस्थाओं को सुरक्षित रखना चाहिए। वे उनको पवित्र मानती हैं। रामराज्य परिषद् उनको हिन्दुत्व का अंग मानती है, जबकि स्वतन्त्र पार्टी अनुदारवाद के प्रति झुकाववाली उदार परम्परा के आधार पर उनके अस्तित्व को उचित मानती है।

अन्य दल वर्तमान दशा से सन्तुष्ट नहीं है। उनका मत है कि आर्थिक तथा अन्य अधिष्ठानों में परिवर्तन वांछनीय है, क्योंकि वे न तो आदर्श का प्रतिनिधित्व करते हैं और न अब उनमें उनके प्रारम्भिक काल की सजीवता है। समाजवादी पश्चिमी देशों के समाजवादी दार्शनिकों द्वारा निर्देशित दिशा में परिवर्तन के आकांक्षी हैं। जनसंघ अपने पूर्वजों द्वारा मानव के लिए निर्दिष्ट सिद्धान्तों और लक्ष्यों द्वारा निर्धारित दिशा में परिवर्तन चाहता है।

इस प्रकार यदि आप यथास्थिति बनाये रखना चाहते हैं, तब स्वतन्त्र पार्टी के पक्ष में मतदान कीजिए; यदि आप पश्चिम के अनुकरण पर परिवर्तन चाहते हैं, तब किसी भी समाजवादी दल को चुन लीजिए; यदि आप पुरातन आदर्शों के साथ अनुरूपता रखते हुए अपने राष्ट्रीय जीवन को आधुनिक रूप देना और सुधार करना चाहते हैं तो जनसंघ का समर्थन कीजिए।

(११ दिसम्बर, १९६१)

जनसंघ-अधिवेशनों के बारे में

भारतीय जनसंघ का १२ वाँ वार्षिक अधिवेशन २३ और २४ जनवरी को विजयवाड़ा में होने जा रहा है। जहाँ कहीं भी मैं गया हूँ, जनसंघ-कार्यकर्ताओं और जनता में समान रूप से इस अधिवेशन के बारे में उत्साह दिखाई पड़ा है। यह उल्लेखनीय है कि अभी तक जनसंघ का एक भी अधिवेशन ऐसा नहीं रहा, जहाँ आयोजनकर्ताओं की अपेक्षा से अधिक उपस्थिति न रही हो। अतः यदि इस बार भी वैसा ही हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। आयोजनकर्ता कुछ संकटकालीन सहायक व्यवस्था कर रखेंगे तो अच्छा होगा ताकि आकस्मिक भीड़ के कारण कठिनाई न उत्पन्न हो सके।

जनसंघ एक वर्द्धनोन्मुख दल है। जनता को इससे महान् आशाएँ हैं। हमारे कार्यकर्ता अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक हैं। इसलिए हमारे राष्ट्रीय जीवन में चतुर्दिक् संकटों के गंभीर होते जाने की वर्तमान दशा में यह स्वाभाविक है कि जो लोग अपने उत्तरदायित्वों का अनुभव करते हैं, और जो लोग भग्नोत्साह होकर निष्क्रिय और उदासीन नहीं बन गये हैं, वे अधिवेशन में भाग लेने के लिए उत्सुक होंगे, जहाँ वे तथ्यों की तुलना और स्थिति पर विचार-विमर्श कर सकेंगे तथा भावी कार्यक्रम निश्चित कर सकेंगे। चूँकि हम अपने दैनंदिन कार्य में लोगों की छोटी-मोटी कठिनाइयों को—जो यद्यपि कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं—सुलझाते हुए मुख्यतः स्थानीय विषयों में ही व्यस्त रहते हैं, अतः केवल उस समय ही राष्ट्रीय दृष्टिकोण से समस्याओं पर विचार कर पाते हैं जब [illegible] के चारों कोनों से लोग एकत्र होते हैं। यहाँ स्थानीय और राष्ट्रीय दृष्टिकोण मिलकर एक हो जाते हैं और एक सम्पूर्ण एकात्म दृष्टिकोण विकसित होता है। यही वह दृष्टिकोण है जिसका आज देश में नितान्त अभाव है। समाज में ऐसे लोग भी हैं, जो अपने आप में और अपनी समस्याओं में इतने अधिक व्यस्त हैं कि या तो वे विस्तृत विश्व से बिल्कुल अनभिज्ञ हैं, या वे चाहते हैं कि सारी दुनिया केवल उनके इर्द-गिर्द ही चक्कर लगाया करे। फिर, ऐसे लोग भी हैं जो सदा बड़ी-बड़ी और काल्पनिक बातें सोचने के अभ्यस्त हैं। ज्योतिषी की कहावत की भाँति उनकी आँखें आकाश के तारों पर लगी रहती हैं और वे ठीक अपने सामने की खाई को देखना भी भूल जाते हैं। यदि ऐसे लोग

जीवन के गहन गर्तों में ही मर-मिटते हैं तो आश्चर्य या खेद का कारण नहीं।

चूँकि यह अधिवेशन दक्षिण भारत में होने जा रहा है, अतः यह प्रतिनिधियों की रुचि का एक और कारण है। हम लोगों ने एक वार्षिक अधिवेशन बंगलूर में भी किया था, परन्तु वह केवल एक कामकाजी अधिवेशन था। इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य अधिवेशनों में कामकाज नहीं होता, परन्तु ऐसे अधिवेशन को, जहाँ प्रचार और प्रसिद्धि पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता, कामकाजी कहते हैं। उस दृष्टि से विजयवाड़ा के अधिवेशन को बड़े पैमाने पर आयोजित अधिवेशन कह सकते हैं।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन के समय मैं आन्ध्र में ही था। अधिवेशन को तड़क-भड़कवाला अधिवेशन बनाने के लिए सारे सरकारी तंत्र को भिड़ा दिया गया था। फिर भी, मुझे बताया गया कि कांग्रेस-अध्यक्ष के वहाँ पहुँचने पर वे उनकी शोभायात्रा तक नहीं निकाल सके। गुण्टूर-अधिवेशन से लौटनेवाले एक सज्जन ने कहा कि "हमने राजशक्ति का प्रदर्शन देखा है, अब विजयवाड़ा के जनसंघ-अधिवेशन में हम जनशक्ति की अभिव्यक्ति का दर्शन करेंगे।"

यह नेताओं का मिलन-स्थल न होकर जनता का सम्मेलन होगा। स्वाभाविकतया ही, वहाँ ठहरने और भोजन की विलासितापूर्ण व्यवस्था नहीं होगी। सम्पूर्ण कार्यक्रम में बाह्याडम्बर नहीं रहेगा, और निश्चित ही वक्ताओं और श्रोताओं अर्थात् नेताओं और जनता के बीच भयप्रेरक दूरी नहीं रहेगी। किन्तु वहाँ अधिक सुव्यवस्था, अधिक अनुशासन, अधिक मात्रा में गम्भीर विचार-विमर्श होना चाहिए। यह उचित नहीं होगा कि हम बड़े अधिवेशनों की तड़क-भड़क करें और फिर अण्वस्त्रों के निर्माण जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर यों ही ज्यों-त्यों ऊपरी विचार करके उन्हें टाल दें।

ऐसी एक व्यापक भावना है कि दक्षिण भारत में जनसंघ का प्रवेश नहीं है। यह सच है कि दक्षिण में ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ हम विलम्ब से पहुँचे और जहाँ कुछ विशिष्ट समस्याओं के कारण जनसंघ एक प्रचण्ड शक्ति नहीं बन पाया है, किन्तु सम्पूर्ण दक्षिण भारत पर यह बात लागू नहीं होती। हमें जनता की इस मिथ्या धारणा को दूर करना होगा। मुझे आशा है कि यह अधिवेशन इस उद्देश्य में सफल होगा। जनता को यह जानना चाहिए कि जनसंघ एक अखिल-भारतीय संगठन है और इसके कार्यक्रमों में राष्ट्रीय प्रेरणा है, तथा यह भी कि इसका कार्य विकसित हो चुका है और इसका दूर्वाजाल सम्पूर्ण देश में फैल रहा है।

२५ और २६ जनवरी को भारतीय प्रतिनिधि सभा की बैठक में जनसंघ के

'सिद्धान्त और नीति' के प्रारूप पर भी विचार-विमर्श होने वाला है और उसे स्वीकार किया जाना है। प्रारूप को पहले, जनसंघ की ग्वालियर-बैठक के समय प्रचारित किया गया था। उस समय यह निश्चय किया गया था कि उसे सार्वजनिक परिचर्चा के लिए खुला रखा जाय। विभिन्न स्तरों पर कार्यकर्ताओं से प्रारूप का अध्ययन करने, उस पर विचार-विमर्श करने तथा अपने मत एवं सुझावों को केन्द्रीय कार्यालय के पास भेज देने के लिए कहा गया। प्रारूप के महत्त्वपूर्ण होने के कारण उस पर ऐसे लोगों के भी मत माँगे गये, जो यद्यपि जनसंघ से सम्बन्धित नहीं हैं, किन्तु जिनकी भारतीय संस्कृति में गहरी निष्ठा और रुचि है। प्रारूप का अच्छा स्वागत हुआ और प्रचुर संख्या में लोगों के मत प्राप्त हुए हैं। उन लोगों के प्रति हम कृतज्ञ हैं, जिन्होंने प्रारूप के मूल रूप में सुधार करने में हमारी सहायता की है।

प्राप्त सभी दृष्टिकोणों के साथ प्रारूप पर कार्यकारिणी समिति की एक उपसमिति ने विचार किया। कार्यकारिणी समिति ने भी पटना में ४, ५ और ६ दिसम्बर की अपनी बैठक में उस पर विचार किया एवं उसको स्वीकार किया। अब अन्तिम चरणों में उसे पुष्टि और स्वीकृति के लिए भारतीय प्रतिनिधि सभा के सामने रखा जाने वाला है।

यह स्वाभाविक है कि विचार-विमर्श के स्तर पर संगठन के विभिन्न सदस्यों द्वारा अलग-अलग, आलोचनात्मक और परस्परविरोधी मत व्यक्त किये गये हैं। इससे यह प्रकट होता है कि हम अपने प्रस्तावों तथा घोषणापत्रों के प्रति मानसिक रूप से जागरूक और सचिन्त हैं। मुझे स्मरण आता है कि एक अखिल भारतीय दल के एक महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी ने एक बार कहा था कि उनके संगठन के कागजों में पूर्ण समाजवाद से लेकर मुक्त उद्योग तक की नीतियों के समर्थन में प्रस्ताव और घोषणापत्र विद्यमान हैं। यदि हम अपने दल को उनके दल के साथ मिला देने के लिए तैयार हो जायें, तो उनका दल कोई भी कार्यक्रम स्वीकार कर लेगा। जनसंघ के सदस्य इन बातों को इतनी हल्की दृष्टि से नहीं देखते। हम लोग राजनीति में पदलिप्सा के कारण नहीं, बल्कि कोई उद्देश्य लेकर उतरे हैं। इसलिए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि जनसंघ के सदस्यों ने प्रारूप पर इतनी गंभीरता से विचार किया, और जो कुछ उन्होंने अनुभव किया, उसे कहने का साहस भी प्रदर्शित किया। इस प्रकार के लोगों से गठित संस्था का भविष्य उज्ज्वल है। जनतंत्र उनके हाथों में सुरक्षित है। उन्मुक्त चिन्तन के लिए पूरी भूमिका सुरक्षित है।

कुछ समाचारपत्रों ने, विशेषकर वामपंथी विचारधारा के समाचारपत्रों ने, इसी आधार पर जनसंघ के कार्यकर्ताओं में फूट बताने का प्रयास किया है। यह उनका दिवास्वप्न है। जो लोग 'मस्तिष्क की धुलाई' की पद्धतियों के अभ्यस्त हैं और जिनके लिए कठोर एकमतित्व के अतिरिक्त अन्य सब बातें अपराध हैं, वे स्वतन्त्र चिन्तन की बात नहीं समझ सकते।

फिर भी, हम लोगों को सतर्क रहना है, ताकि वामपंथी समाचारपत्रों के गोएबेलियन* झूठ हमारे अचेतन मन पर अपना कोई प्रभाव न डाल दें। हम लोगों ने 'त्रयाणाम् धूर्तानाम्' की—तीन ठग जिन्होंने गरीब ब्राह्मण को यह समझ लेने के लिए विवश कर दिया कि वह बकरा नहीं कुत्ता ढो रहा है—कहानी पढ़ी है। विजयवाड़ा के जनसंघ-अधिवेशन से देश की एकता, स्वतन्त्रता तथा जनतन्त्र के इन शत्रुओं को भारी निराशा हाथ लगेगी। इससे जनता को यह पुनः आश्वासन मिल जायेगा कि जनसंघ सदा की भाँति अपने ठोस एवं एकताबद्ध कार्यकर्ताओं के साथ उसके स्वप्नों को साकार करने के लिए शीघ्र ही उपयुक्त माध्यम के रूप में सामने आयेगा।

(११ जनवरी, १९६५)

* गोएबेल्स हिटलरकालीन नाजी जर्मनी का एक नेता एवं प्रचारमंत्री था, जिसका कहना था कि एक ही झूठी बात को सौ बार दुहराने से वह सच बन जाती है।

स्वतन्त्र पार्टी और भारतीय जनसंघ का एकीकरण?

पंजाब प्रदेश जनसंघ का १२ वाँ वार्षिक अधिवेशन २६ और २७ दिसम्बर ६४ चण्डीगढ़ में सम्पन्न हुआ। अधिवेशन में उपस्थित प्रतिनिधियों की संख्या, उनके विचार-विमर्श की प्रकृति तथा अधिवेशन के विभिन्न कार्यक्रमों को सम्पादित करने की उनकी पद्धति के कारण वह एक महत्त्वपूर्ण अधिवेशन बन गया है।

विरोधी पक्ष के कुछ नेताओं की उपस्थिति उल्लेखनीय रही। पंजाब में गैरकम्यूनिस्ट विरोधी दलों के संयुक्त मोर्चे के फलस्वरूप नेताओं के बीच मैत्री एवं सहिष्णुता की भावना पैदा हुई है, इसलिए वे अन्य राजनीतिक दलों द्वारा आयोजित सभाओं में जाना अवांछनीय नहीं मानते। बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस अधिवेशन की स्वागत-समिति के अध्यक्ष थे श्री चिरंजीवलाल, जो एक प्रमुख ऐडवोकेट तथा स्वतन्त्र पार्टी के एक नेता हैं। और खुले अधिवेशन में अपने भाषण में वे केवल औपचारिक स्वागत करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए, बल्कि उन्होंने श्रोताओं के सामने एक घण्टे से भी अधिक समय तक भाषण किया और भारत तथा विश्व की राजनीतिक घटनाओं का विस्तार के साथ सिंहावलोकन किया। उनकी तुलना में डा. बलदेव प्रकाश का अध्यक्षीय भाषण स्वागत-भाषण का केवल उपसंहार मात्र प्रतीत हुआ। शायद, यह संक्षिप्त भाषण श्रोताओं को दी गयी सुविधा थी, जो पहले संत्रस्त हो उठे थे और प्रतिदान चाहते थे। यदि डाक्टर नाड़ी नहीं पहचानता तो और कौन पहचानता?

स्वतन्त्र पार्टी के महामंत्री सरदार वसन्त सिंह न, जिन्होंने योजना पर एक गोष्ठी में भाषण दिया, दोनों दलों के एकत्र आने की आवश्यकता प्रतिपादित की और यह आशा व्यक्त की कि दोनों दलों के बीच शीघ्र एकता हो जायेगी। उनके उद्गारों पर हर्ष व्यक्त किया गया। दोनों दलों को एकत्र आना चाहिए, यह सर्वसामान्य अभिलाषा है। किन्तु, आकांक्षा का अर्थ इच्छा नहीं है।

हाल में जब मैं अमरीका-यात्रा पर रवाना हो रहा था, तब नयी दिल्ली के कांस्टीट्यूशन क्लब में एक छोटी-सी जलपान-गोष्ठी आयोजित की गयी थी, और उस अवसर पर उस सभा के अध्यक्ष ने भी इसी प्रकार की आकांक्षा प्रकट की। स्वतन्त्र पार्टी के अध्यक्ष श्री एन.जी. रंगा ने अपने भाषण में सभाध्यक्ष द्वारा

अभिव्यक्त उद्‌गारों की चर्चा की और कहा कि एकता के बारे में बातें करना एक फैशन हो गया है। उन्होंने कहा कि जब तक दोनों दलों के दृष्टिकोणों और नीतियों को अलग रखनेवाले कारण विद्यमान हैं, तब तक एकता संभव नहीं है। श्री रंगा ने जो कुछ कहा, वह बहुत तथ्यपूर्ण बात है। हम जानते हैं कि जनसंघ के अस्तित्व में रहने के बावजूद स्वतन्त्र पार्टी का गठन किया गया। पहली बैठक में, जो वस्तुतः एक अन्य उद्देश्य से बुलायी गयी थी, परन्तु जिसमें स्वतन्त्र पार्टी का २१ सूत्री प्रारूप-कार्यक्रम वितरित किया गया और वैसा दल गठित करने का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया, मद्रास और मैसूर जनसंघ के तत्कालीन प्रान्तीय अध्यक्षों क्रमशः श्री वी. राजगोपालाचारी और श्री एम.ए. वेंकटराव ने सभा से आग्रह किया कि दूसरा दल गठित करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि एक ऐसा दल पहले से ही अस्तित्व में है जो नये दल के गठन के लिए बतायी गयी आवश्यकताओं की बहुत कुछ पूर्ति करता है और आप सब लोगों का उसमें सम्मिलित होने तथा उसे शक्तिशाली बनाने के लिए स्वागत है। फिर भी, वहाँ उपस्थित अन्य नेताओं का यही विचार हुआ कि वे अपने लिए एक अलग ही घर बनायें। और उन्होंने वैसा ही किया अर्थात् स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना की।

तब से उस पार्टी ने अपना स्वयं का एक विशिष्ट व्यक्तित्व विकसित कर लिया है। स्पष्ट है कि दोनों दलों के बीच एकता केवल तभी हो सकती है जब स्वतन्त्र पार्टी के नेता पहले इस बात पर विचार करें और निर्णय करें कि क्या जिस कारण उन्हें अलग दल बनाने की प्रेरणा मिली, वे कारण उचित थे और क्या वे कारण अब भी बने हुए हैं? यदि इसका उत्तर 'हाँ' में है, तब एकता के सारे प्रस्तावों का उत्तर अनिवार्य रूप से 'ना' है। किन्तु यदि अलग अस्तित्व के कोई उचित कारण विद्यमान नहीं हैं तो यदि हमारी इच्छा हो तो एकता के लिए मार्ग है। सरदार बसन्त सिंह एवं उनके सदृश विचार रखनेवाले अन्य लोगों से भी—और पार्टी में ऐसे बहुत से लोग हैं—मैं आग्रह करता हूँ कि इस सम्बन्ध में भाषण करने के लिए उचित मंच जनसंघ का अधिवेशन नहीं है। उन्हें स्वयं अपने नेताओं से ही तत्सम्बन्धी आग्रह करना चाहिए।

(४ जनवरी, १९६५)

कश्मीर, जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी

श्री टी.टी. कृष्णमाचारी ने सम्पूर्ण जम्मू और कश्मीर राज्य के वैधानिक रूप से भारत का अंग होने की दृढ़ घोषणा करते हुए भी कश्मीर-प्रश्न पर पाकिस्तान के साथ वार्ता करने की सरकार की इच्छा व्यक्त की है। जब तक पाकिस्तान उस राज्य पर हमारा वैधानिक अधिकार मान्य करने को तैयार नहीं है, उस प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच वार्ता का कोई सामान्य आधार नहीं है। समय-समय पर भारत सरकार अन्तरराष्ट्रीय दबावों के सामने झुकती रही है और कश्मीर के बारे में पाकिस्तान से वार्ता करती रही है। इससे हमारे मूलभूत रुख के बारे में उलझन पैदा हुई है और उन तत्त्वों को प्रोत्साहन मिला है जो भारत के और अधिक विभाजन के लिए षड्यन्त्र कर रहे हैं। इससे राज्य के विकास में भी बाधा पहुँची है। भारत सरकार को सदा के लिए एक बार यह घोषित कर देना चाहिए कि वह ऐसे किसी भी व्यक्ति के साथ कश्मीर पर वार्ता नहीं करेगी, जो कश्मीर के भारत में विलय को अन्तिम और अखण्डनीय मानने से इन्कार करता है। यह भी आवश्यक है कि संविधान की धारा ३७० को समाप्त कर दिया जाय, ताकि उस राज्य को भारतीय संघ के अन्तर्गत समान स्तर मिल सके और कश्मीर में निवास करने वाले भारतीय नागरिक हमारे संविधान के अन्तर्गत गारण्टी और सुविधाओं के बारे में आश्वस्त हो सकें। इससे राज्य के भविष्य के बारे में सारी अटकलबाजियों तथा पतंगबाजियों की समाप्ति हो जायेगी।

भारत में ऐसे लोग भी हैं जो समस्या के विभिन्न हलों की वकालत कर रहे हैं, जिन में कश्मीर के भारत से अलग होने की बात भी सम्मिलित है। भारत की एकता और अखण्डता के हित में यह आवश्यक हो गया है कि इस प्रकार के प्रचार को अविलम्ब रोक दिया जाय। कश्मीर को संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत रख देने का भी श्री राजाजी का सुझाव खतरनाक है। हम इस सुन्दर घाटी तथा अपने यौद्धिक महत्त्व के क्षेत्र को अन्तरराष्ट्रीय संघर्षों का अखाड़ा बनाना नहीं चाहते। किसी भी परिस्थिति में कश्मीर को दूसरा 'कांगो' या 'लाओस' नहीं बनने दिया जा सकता।

बताया जाता है कि स्वतन्त्र पार्टी के महामंत्री श्री एम.आर. मसानी ने अभी कुछ ही दिनों पूर्व हैदराबाद में कहा है कि उनकी पार्टी जनसंघ से तब तक कोई सम्बन्ध

नहीं रखेगी, जब तक वह पाकिस्तान और कश्मीर के बारे में अपनी नीति में परिवर्तन नहीं करता। श्री मसानी के प्रति हम इसके लिए कृतज्ञ हैं कि उन्होंने इतने स्पष्ट रूप में अपने मन की बात प्रकट कर दी है। इससे हमें चुनाव-सम्बन्धी वचनबद्धता से मुक्ति मिल गयी है, जो तब से ही हमारे लिए परेशानी का कारण बनी हुई है जब से स्वतन्त्र पार्टी के नेताओं ने कश्मीर और पाकिस्तान के बारे में अपना वर्तमान रुख अपना रखा है। वस्तुतः, हमें पहले यह समझाया गया था कि श्री राजगोपालाचारी और श्री मसानी द्वारा अभिव्यक्त विचार उनके व्यक्तिगत विचार हैं और स्वतन्त्र पार्टी के वे विचार नहीं हैं। इसके विपरीत पार्टी के अधिकांश सदस्यों का इस प्रश्न पर वही मत है, जो जनसंघ का है। ऐसा प्रतीत होता है कि अब स्वतन्त्र पार्टी के बहुमत को राजाजी और मसानी द्वारा घोषित नीति को स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया गया है। इन परिस्थितियों में यह स्वाभाविक है कि जनसंघ उन शक्तियों का साथ नहीं दे सकता जो एक आक्रामक को भारतीय क्षेत्र का अपमानजनक समर्पण कर देने की पक्षपाती हैं।

लोग पूछते हैं कि कौन-सा संकट बड़ा है? चीन का या पाकिस्तान का? यह तो उसी प्रकार का प्रश्न है कि प्लेग बुरा रोग है या यक्ष्मा? फिर भी, एक अन्तर है। चीन भारत से शक्तिशाली है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि भारत पाकिस्तान की अपेक्षा शक्तिशाली है। दूसरी ओर यह भी बात है कि यदि चीन भारत पर आक्रमण करता है तो पश्चिमी देश हमारी सहायता के लिए दौड़ेंगे, किन्तु यदि पाकिस्तान ने हम पर आक्रमण किया तो कोई हमारी सहायता नहीं करेगा।

(२० जुलाई, १९६४)

मूल्यवृद्धि पर नियंत्रण

गत दशाब्दी में मूल्यों में सतत् वृद्धि होती रही है। अब यह ऐसे नाजुक स्तर पर पहुँच चुकी है कि यदि प्रभावकारी उपाय नहीं किये जाते तो आर्थिक और राजनीतिक, दोनों दृष्टियों से इसके घातक परिणाम होंगे। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि सरकार अभी भी सारंगी बजा रही है। वह किंकर्तव्यविमूढ़ है और आगापीछा कर रही है। सरकारी वक्तव्यों से न तो स्थिति के बारे में सही जानकारी प्रकट होती है, न वर्तमान दुःस्थिति के कारणों का उचित विश्लेषण प्राप्त होता है और न स्थिति को ठीक करने की दृढ़ इच्छा ही प्रकट होती है।

स्थिति को सुधारने के लिए दीर्घकालिक और अल्पकालिक दोनों प्रकार के उपायों की आवश्यकता है। मूल्यवृद्धि का मुख्य कारण उत्पादन में कमी और अपने बढ़ते जा रहे अनुत्पादक व्यय की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा नये-नये ऋणों का निर्माण किये जाने के कारण रुपये के मूल्य में गिरावट है। न केवल चतुर्थ योजना का आकल्पन भिन्न रूप में होना चाहिए, अपितु इन त्रुटियों को दूर करने के लिए तृतीय योजना को भी पुनर्रूप दिया जाना चाहिए। सरकारी व्यय में भारी कटौती की जानी चाहिए और सभी परिहार्य योजनाओं को स्थगित कर देना चाहिए। योजना में प्राथमिकता में परिवर्तन किया जाना चाहिए और आन्तरिक उत्पादन बढ़ाकर तथा साथ ही आयात के द्वारा, दोनों उपायों से उपभोक्ता सामान की पूर्ति में वृद्धि के लिए अविलम्ब प्रयत्न प्रारम्भ कर देना चाहिए।

सरकार को खाद्यान्न-व्यापार के राष्ट्रीयकरण एवं एकाधिकार की कल्पना का परित्याग कर देना चाहिए। इसके स्थान पर, उसे एक बड़े व्यापारी की भाँति, आंशिक रूप में बाजार में उतरना चाहिए। उसे खाद्यान्न के संग्रह और वितरण के लिए देश भर में अपने अभिकरण (एजेन्सी) भी स्थापित करने चाहिए। यदि वह कुल व्यापार के केवल दस प्रतिशत की भी व्यवस्था कर सके तो उससे प्रशासन को व्यापारिक गतिविधियों और मूल्यों को नियमित करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण लाभ की स्थिति प्राप्त होगी। सरकार को किसानों के साथ सीधे व्यापारिक संविदा (वायदा सौदा) करनी चाहिए। इस प्रकार उनको दी गयी सारी सहायता उत्पादन से जुड़ जायेगी।

सरकारी तथा संगठित निजी क्षेत्र के कर्मचारियों के लिए नियोक्ता (मालिकों) द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त उचित मूल्य की दूकानें खोली जानी चाहिए। यह मार्ग महँगाई भत्ते में वृद्धि करने की अपेक्षा अच्छा है, क्योंकि महँगाई भत्ते में वृद्धि का प्रभाव मुद्रा-स्फीतिकारक होता है जिससे वह अतिरिक्त आय निष्फल हो जाती है।

जब कि वर्तमान स्थिति को युद्ध-स्तर पर सम्भालना होगा, सरकार को इस बात की पूरी सतर्कता बरतनी होगी कि समाजद्रोही तत्त्व या ऐसे तत्त्व जो अपने स्वार्थसाधन के लिए अव्यवस्था उत्पन्न करना चाहते हैं, इससे स्वार्थसाधन न कर सकें। अनाज की दूकानों की लूट किसी भी स्थिति में सहन नहीं की जानी चाहिए। प्रत्येक जिले में और उच्च स्तर पर सर्वदलीय समितियाँ गठित की जानी चाहिए, ताकि इस समस्या को निष्पक्ष ढंग से संभाला जा सके।

(२० जुलाई, १९६४)

कामराज-योजना पर एक दृष्टि

त्याग की कामराज योजना से—या वास्तव में यदि इसमें त्याग की महान् भावना हो तो इसे यतिराज योजना कहना चाहिए—धारदार बनी पण्डित नेहरू की कुल्हाड़ी का प्रथम प्रहार ६ केन्द्रीय मन्त्रियों और उतने ही राज्यों के मुख्यमन्त्रियों पर हुआ है। यह हथकण्डा जर्जर कांग्रेस को भ्रष्टाचार तथा सत्तालोलुपता के जीर्ण रोग से मुक्त करने के लिए अपनाया गया है।

इसके एक क्रान्तिकारी पग होने का दावा किया जा रहा है। किन्तु सनसनी पैदा करने का अर्थ क्रान्ति नहीं है और न क्रान्ति का अर्थ आवश्यक रूप से प्रगति ही है। इन बारह विश्वस्तों या एक दर्जन अभिशप्त व्यक्तियों—अब आप चाहे जिस दृष्टि से देखें—के बहिर्गमन से भरभराकर ढहती कांग्रेस को कैसे जीवनदान मिलेगा? यदि ये लोग इतने ही योग्य और अच्छे प्रशासक हैं, तो इनके चले जाने से सरकार ऐसे योग्य व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित हो जायेगी। और, इस कठिन घड़ी में देश इस प्रकार के विलास को वहन करने की स्थिति में नहीं है। किन्तु यदि उन्हें इस कारण पदच्युत किया गया है कि वे बोझ बन गये थे, तो वे पतनोन्मुख कांग्रेस की क्या सेवा कर सकेंगे? रोगाणुयुक्त रक्त यदि किसी रोगी के शरीर में प्रविष्ट कराया जाय तो वह रोगी के लिए घातक ही सिद्ध होगा।

अ.भा. कांग्रेस कमेटी ने 'विक्टोरिया क्रास'—या 'अशोक चक्र'?—प्रदान करने के लिए ऐसे वीरों को चुन लेने का सर्वाधिकार पण्डित नेहरू को दे दिया। उन्होंने पहली सूची प्रस्तुत करने की कृपा कर दी है। अब यह तो अनुमान लगाने की बात है कि क्या यह चुनाव यथार्थपरक दृष्टि से किया गया है? उनमें से कुछ ने अपना नाम सूची में सम्मिलित किये जाने पर जो आश्चर्य व्यक्त किया, उससे यह प्रकट है कि वे अपने त्यागपत्र को वास्तविक अर्थ में त्यागपत्र नहीं मानते थे। स्पष्ट है कि वे नया कार्यभार उस निष्ठा के साथ नहीं सम्भालने जा रहे हैं, जिसकी उनसे अपेक्षा की जाती है— अर्थात् सत्तरवर्षीय कांग्रेस में नया जीवन और नयी शक्ति फूँकने का कार्य। वे विश्वासाभिव्यक्ति की चाल के शिकार बन गये हैं।

केवल अनभिज्ञ या भोले-भाले व्यक्ति ही इस बात पर विश्वास कर सकते हैं कि कांग्रेस सरकार की व्याधियाँ केवल ऐसे कुछ लोगों के बहिर्गमन से दूर हो

सकती है, जो अपने नेता द्वारा आकल्पित और निर्धारित नीतियों के केवल कियान्वयनकर्ता थे। मंत्री आये हैं और चले गये हैं, किन्तु स्थिति में सुधार नहीं हुआ है। यह सर्वज्ञात है कि प्रधानमंत्री को छोड़कर अन्य मंत्रियों का कोई विशेष मूल्य नहीं है। कश्मीर-समस्या, नेहरू-लियाकत-समझौता, पंचशील सन्धि, पंचवर्षीय योजनाएँ, समाजवादी ढाँचे का उद्देश्य और वायस आफ अमरीका काण्ड—ये सभी बातें इस तथ्य का द्योतन करती हैं कि मंत्रिमंडल के संयुक्त उत्तरदायित्व का कभी निर्वाह नहीं किया गया। आज, कामराज योजना के बाद भी, पंचवर्षीय योजनाएँ और उनके धर्मपिता ज्यों के त्यों हैं। प्रधानमंत्री का व्यक्तिगत प्राबल्य भी यथावत् है। लोगों को दुष्प्रभावित करनेवाली नीतियाँ भी ज्यों की त्यों हैं। इसके विपरीत, जैसा कि श्री एन. वी. गाडगिल ने बताया था, इस सबसे प्रधानमंत्री को और अधिक अधिकार मिल जायेंगे। वस्तुतः कामराज योजना ही उसी लक्ष्य से बनायी गयी थी। इसका उद्देश्य यही था कि लोकसभा में अविश्वास-प्रस्ताव के कारण पण्डित नेहरू का जो तेज घट गया था, उसे फिर से जागृत किया जा सके। किन्तु कांग्रेस की अन्य योजनाओं के समान ही यह योजना भी असफल हो जायेगी।

बहुत पहले, १९४७ में, कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष आचार्य कृपलानी ने कांग्रेस सरकार को कांग्रेस संस्था का अनुवर्ती बनाना चाहा था। किन्तु पंडित नेहरू सहमत नहीं हुए। गांधीजी उसे लागू नहीं करा सके। और, आचार्य कृपलानी को त्यागपत्र देना पड़ा।

इतने पर भी, प्रधानमंत्री को यह अधिकार देने के बदले कि वे उन लोगों का चुनाव करें कि कौन-कौन त्यागपत्र दें, यदि यह अधिकार कांग्रेस-अध्यक्ष को दिया गया होता तो स्थिति अलग होती। स्पष्ट ही अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को अपने अध्यक्ष में विश्वास नहीं है, या उसमें इसे अभिव्यक्त करने का साहस नहीं है। और जब अ. भा. कांग्रेस कमेटी का एक रबर-स्टाम्प से अधिक कोई व्यक्तित्व नहीं है, या जब वह कोई स्वतन्त्र निर्णय नहीं ले सकती, तो उसके प्रस्तावों का कोई अर्थ नहीं है।

यद्यपि हमारे मन में इस योजना के उद्देश्य की सफलता के बारे में सन्देह बना हुआ है, तथापि स्थिति सुधारने की दिशा में प्रधानमंत्री तथा उनके कांग्रेसी साथियों के प्रयत्नों की सफलता की हम कामना करते हैं। किन्तु हम जनता को यह चेतावनी भी

देना चाहते हैं कि वे आत्मतुष्ट न बनें और अपनी सतर्कता में शिथिलता न आने दें। जिनको कोई व्यसन लग जाता है, उनका सुधरना सरल नहीं। और, बाद में पश्चात्ताप करने और अपने को कोसते बैठने की अपेक्षा सतर्क और सशक्त रहना अच्छा है।

(२ सितम्बर, १९६३)

पंजाब और पंजाबी

पंजाब विधानसभा ने पंजाब विशेष भाषा विधेयक पारित कर दिया है। इस विधेयक ने इस विषय में पहले घोषित किये गये अध्यादेश का स्थान ले लिया है। जिला स्तर तक प्रशासन में उर्दू और अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी और पंजाबी को लागू करने के विधान का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह एक स्वागतयोग्य पग है। किन्तु यह पंजाब में शायद ही किसी को सन्तुष्ट कर सकेगा, क्योंकि इस विधेयक ने प्रदेश में हिन्दी और पंजाबी को उनके वैध स्थान से वंचित कर दिया है। यह सरकार और जनता के बीच उसकी भाषा में प्रत्यक्ष सम्पर्क जोड़ने की अपेक्षा, जो एक जनतांत्रिक ढाँचे में अत्यन्त अनिवार्य बात है, एक तुष्टिकरण (खुशामद) का कार्य अधिक है। इसमें वास्तविकता की उपेक्षा की गयी है और इसने सरकारी भाषा के प्रयोग सम्बन्धी व्यवस्थाओं में मतभेद का तत्त्व घुसा दिया है।

पंजाब की समस्या की ओर देखनेवाले हर व्यक्ति को यह ध्यान में रखना ही चाहिए कि विभिन्न कारणों से यह प्रान्त देश के अन्य भागों में विकसित भाषा-क्षेत्र का प्रतिरूप (pattern) नहीं प्रस्तुत करता। इसलिए भाषा-समस्या को हल करने के लिए उसी मानदण्ड का प्रयोग नहीं किया जा सकता, जिसका महाराष्ट्र या आन्ध्र में किया गया है। सम्पूर्ण रूप से यह राज्य न केवल एकभाषी राज्य नहीं है, अपितु किसी भी आधार पर उसमें से कोई सुनिर्धारित एकभाषी क्षेत्र काटकर निकाल सकना भी संभव नहीं है। सच्चर-सूत्र (फार्मूले) और क्षेत्रीय सूत्र (फार्मूले) में हिन्दी और पंजाबी क्षेत्रों के रेखांकन का सुझाव दिया गया है और अकाली दल पंजाबी सूबे के लिए आंदोलन कर रहा है। इन सबका भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सभी साम्प्रदायिक आधार पर राज्य के विभाजन के प्रयत्न हैं।

भाषावाद, सम्प्रदायवाद और विलगाववाद पंजाब में इस प्रकार मिश्रित हो गये हैं कि जनता के लिए इन सारी बातों को सोद्देश्य ढंग से देखना कठिन हो गया है। पंजाब को सिखों से सम्बद्ध माना जाने लगा है और पंजाबी सूबे को सिख राज्य से। जिस ढंग से अकाली दल ने पंजाबी भाषा की मान्यता और पंजाबी सूबे के लिए आन्दोलन चलाया है, उससे आन्दोलन के आयोजकों के वास्तविक उद्देश्य के बारे में सन्देहों की केवल पुष्टि ही हुई है।

भाषा-समस्या को ठीक ढंग से तभी देखा जा सकता है, जब उसे पंजाबी सूबे की माँग से अलग कर दिया जाय। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वर्तमान विभाजित पंजाब का और विभाजन नहीं किया जायेगा। इसके किसी भी प्रकार के विभाजन से निर्मित इकाइयों की स्थिति संकटापन्न रहेगी और साम्प्रदायिक समस्याओं का समाधान न होकर उल्टे उन्हें बल मिलेगा। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक और भाषा के आधार पर भी पंजाब के वर्तमान आकार को छोटा करना संभव नहीं है। पंजाब को अपने वर्तमान आकार में बने रहते हुए, राज्य में प्रचलित भाषाओं का इस ढंग से प्रयोग करना है कि प्रशासन के साथ संचार-सम्पर्क का जनता के लिए बोधगम्य और सरल साधन बनने के अतिरिक्त उनसे भावात्मक एकता भी सुदृढ़ हो। जब तक पंजाबी और हिन्दी का साम्प्रदायिक या क्षेत्रीय आधार पर प्रयोग चलता रहेगा, तब तक इन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होगी।

पंजाबी को सिखों की भाषा कहना गलत है। गैरसिख इसे न केवल बोलते हैं, बल्कि ऐसे अनेक गैरसिख हैं जिन्होंने इस भाषा में साहित्यिक योगदान किया है। यदि अकालियों ने इस भाषा का अपने अलगाववादी उद्देश्यों के साधन के रूप में उपयोग नहीं किया होता, तो अपनी मातृभाषा को समृद्ध बनाने के लिए गैरसिख अधिकाधिक संख्या में आगे आते। फिर भी, इसे मान्य करना ही होगा कि ऐसे लोग एक विशाल संख्या में हैं जो यद्यपि पंजाबी बोलते हैं, किन्तु उन सभी कार्यों या उद्देश्यों के लिए, जिसके लिए भाषा की आवश्यकता है, हिन्दी का ही उपयोग करते हैं या करना चाहते हैं। हिन्दी और पंजाबी के प्रति उनका वर्तमान रुख अकाली राजनीति के कारण कठोर बन सकता है, किन्तु निश्चित रूप से यह रुख मूलतः प्रतिक्रियाजन्य नहीं है। यहाँ तक कि सिख गुरु व्रजभाषा के पण्डित थे, जो हिन्दी की तत्कालीन प्रधान बोली थी। और यदि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पंजाब के लोगों में अपने संदेश का प्रचार करने के लिए हिन्दी का प्रयोग किया तो उन्होंने ऐसा इसलिए किया कि वह व्यापक रूप से समझी जाती थी।वस्तुतः पंजाब में हिन्दी और पंजाबी साथ-साथ विकसित हो रही हैं। यह स्वीकार करना ही होगा कि पंजाबी उस समय एक साहित्य के साथ सर्वांगपूर्ण भाषा के रूप में विकसित नहीं हो सकी, जब अन्य क्षेत्रीय भाषाएँ हुई थीं। उसके विकास में विलम्ब हुआ है, पर इस कारण उसे क्षति नहीं उठानी चाहिए। एक विकासशील भाषा को भी उसी प्रकार कुछ कठिनाइयों और बाधाओं का सामना करना पड़ता है, जिस प्रकार एक विकासशील अर्थव्यवस्था

को। पंजाबी के समर्थकों को इसे अनुभव करना चाहिए और इसे राजनीतिक उद्देश्यों या पांथिक आन्दोलनों के साथ जोड़कर उसके मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न करने के स्थान पर उन्हें उसे यथासम्भव अधिकाधिक लोगों द्वारा अंगीकार किये जाने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए।

लिपि का प्रश्न भी उलझनवाला है। गुरुमुखी का विरोध करने में कोई तुक नहीं है। इसका मूल चाहे जो हो, आज पंजाबीभाषी जनता व्यापक पैमाने पर इसका प्रयोग करती है। किन्तु ऐसे लोग भी बहुत हैं जो नागरी लिपि के प्रयोग की भी माँग करते हैं। इसे क्यों नहीं स्वीकार कर लेना चाहिए? इससे पंजाबी का हित होगा। ऐसी आशकाएँ व्यक्त की जाती हैं कि यदि पंजाबी के लिए नागरी का प्रयोग होगा तो पंजाबी भाषा अपनी विशिष्ट प्रकृति नहीं प्राप्त कर सकेगी। यह आशंका आधारहीन है। मराठी की लिपि नागरी है और फिर भी वह एक अलग भाषा है। सरकार चाहे जो करे, मेरा मत है कि लेखक और प्रकाशक पंजाबी लिखने के लिए अधिकाधिक नागरी का प्रयोग करेंगे, क्योंकि नागरी में प्रकाशित पुस्तकों के लिए निश्चित रूप से व्यापक बाजार रहेगा। चूँकि हिन्दी राष्ट्रभाषा है, हर व्यक्ति इसे सीखेगा। इसलिए नागरी लिपि सबको ज्ञात रहेगी। अकेले गुरुमुखी की माँग करनेवाले तो पंजाबी के क्षेत्र को केवल सीमित कर देना चाहते है।

भारतीय जनसंघ का सदा से यह मत रहा है कि पंजाब को सभी कार्यों के लिए एक द्विभाषी राज्य मान्य किया जाय। पूरे राज्य में और सभी स्तरों पर हिन्दी और पंजाबी दोनों का प्रयोग होना चाहिए। इन दोनों भाषाओं में शिक्षा देने की व्यवस्था की जानी चाहिए। किसी भी चरण में दोनों में से किसी एक के विरोध से खाई बढ़ेगी और अन्ततोगत्वा उससे राज्य का विभाजन हो सकता है, जिसका परिणाम सबके लिए बुरा होगा। राज्य में अतिवादी दृष्टिकोण का आग्रह करनेवाली राजनीतिक शक्तियाँ विद्यमान हैं जो विलगाव की नीति का प्रचार करती हैं। चाहे वे पंजाबी के समर्थक हों या हिन्दी के, वे वास्तविकता की उपेक्षा करते हैं और वर्तमान रूप को बलात् बदल देना चाहते हैं। नागरिकों को दोनों भाषाओं का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। पंजाबी रहने के लिए आयी है और कोई उसे हटा नहीं सकता। कुछ लोगों द्वारा उसकी उपेक्षा की जाने से वह केवल एक वर्गविशेष के समर्थकों के द्वारा प्रयुक्त होगी। इसलिए राष्ट्रीयता की भावना की अभिव्यक्ति के उचित साधन के रूप में विकसित होने के बदले इसका संकुचित उद्देश्यों के लिए

वर्गीय स्वार्थसाधकों द्वारा दुरुपयोग किया जावेगा। यह सभी पंजाबियों का पवित्र कर्तव्य है कि वे अपनी मातृभाषा को साम्यवादियों और सम्प्रदायवादियों के चंगुल से मुक्त करें।

पंजाब से हिन्दी को भी नहीं हटाया जा सकता। जब तक गुरुद्वारों में गुरु ग्रंथसाहब का पाठ, मंदिरों में रामायण और सुखसागर का पाठ तथा आर्यसमाज-मन्दिरों में सत्यार्थ प्रकाश का पाठ होता रहेगा, पंजाब के लोगों के जीवन में हिन्दी का गौरवपूर्ण स्थान बना रहेगा।

पंजाब की समस्या के समाधान के लिए सच्चे राष्ट्रीयतापूर्ण और रचनात्मक विचार की आवश्यकता है। यह एक अत्यन्त सन्तोष की बात है कि श्री मा.स. गोलवलकर जैसे निष्पक्ष एवं अत्यन्त देशभक्त व्यक्ति ने भी भारतीय जनसंघ द्वारा बहुत पहले १९५३ में व्यक्त किये गये दृष्टिकोण का समर्थन किया है। उन्होंने पंजाबियों को अपनी मातृभाषा को अंगीकार करने और सिखों को अपनी स्वतः की राष्ट्रीयता अर्थात् हिन्दुत्व को अंगीकार करने का परामर्श दिया है। जनसंघ यह अनुभव करता है कि उसके दृष्टिकोण की पुष्टि हुई है।

जब श्री गोलवलकर ने अपने विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति की, तब अतिवादी तत्त्व परेशान हो गये। जो लोग इस समस्या का समाधान हिन्दी-विरोध या पंजाबी-विरोध में सोचते थे, उन्हें एकात्मता का यह दृष्टिकोण रुचिकर नहीं लगा होगा। फिर भी, विचारशील तत्त्वों को यह मत अच्छा लगा है। दुर्भाग्यवश, गत कुछ वर्षों से पंजाब में अतिवादी स्वयं को ही एकमेव जनप्रतिनिधि मानने लगे हैं, क्योंकि सौम्य और राष्ट्रवादी लोग दृढ़ता से खड़े नहीं हुए। पंजाब जनसंघ की प्रदेश कार्यकारिणी समिति की बैठक २० नवम्बर को करनाल में हुई और उसने भी सम्पूर्ण स्थिति पर विचार करने के बाद अपने पूर्व रुख की ही पुनर्घोषणा की है।

(२८ नवम्बर, १९६०)

मध्यप्रदेश की वन्यजातियाँ

जब मध्यप्रदेश जनसंघ के अध्यक्ष श्री गिरिराज किशोर कपूर ने इटारसी में दल के वार्षिक अधिवेशन में अपने १८ पृष्ठ के भाषण में से पूरे चार पृष्ठ प्रान्त के वनवासियों की—जिन्हें गलती से आदिवासी कहकर पुकारा जाता है—वेदनाओं के वर्णन में लगाये, तब कुछ लोगों का यह मत रहा कि इसे उचित अनुपात से अधिक स्थान दिया गया है। किन्तु इस प्रश्न पर श्री बड़े का पत्रक पढ़ने पर मैंने अनुभव किया कि यह समस्या इतनी विकट है कि इसके विविध पहलुओं की गहराई में जाने के लिए एक अलग सम्मेलन ही किया जाना चाहिए था। अधिवेशन में उपस्थित पाँच सौ से अधिक प्रतिनिधियों में से लगभग ३० प्रतिशत वनवासी थे। भारतीय जनसंघ तेजी से इन जंगलों के गुहय भागों में प्रवेश कर रहा है और वनवासियों ने जनसंघ-कार्यकर्ताओं में अपने हितों के प्रति प्रभूत सहानुभूति पायी है। जनसंघ के कार्यकर्ता वहाँ 'नेतागिरी' करने के लिए नहीं जाते, बल्कि उनकी स्थिति सुधारने के लिए कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करने के लिए जाते हैं।

बार-बार बदलते विधान, योजनाओं के अन्तर्गत अयथार्थवादी कार्यक्रम और प्रशासन का कठोर रुख उन विभिन्न समस्याओं के मुख्य कारण हैं, जिनका इन लोगों को सामना करना पड़ता है। सरकार अधिक जंगल उगाना चाहती है और वन्यजीवन की रक्षा करना चाहती है, किन्तु वह वहाँ रहनेवाले मानवों की पूर्ण उपेक्षा करती है। युगों से ये लोग अपनी आय के लिए वन्य उत्पादनों पर निर्भर रहते हुए सरल किन्तु सुखी जीवन व्यतीत करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त बारी-बारी से ये लोग बड़े क्षेत्रों में खेती भी करते रहे हैं। कृषि-कार्यों के लिए जंगल की भूमि के आबंटन के बदले इन लोगों ने वन लगाने का दायित्व वहन किया। वस्तुतः इन लोगों ने दोनों उत्तरदायित्वों का निर्वाह किया। वह टोंग्या-पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है तथा स्मृति-पूर्व अति प्राचीन काल से प्रचलित है। किन्तु वर्तमान सरकार ने विदेशी विशेषज्ञों के परामर्श से उस पद्धति को समाप्त कर दिया है और सारे वनों को 'संरक्षित वन' घोषित कर दिया है। इस प्रकार उसने बिना उचित आदेश प्राप्त किये इन क्षेत्रों में घास की एक पत्ती तक को छूना अवैध और दण्डनीय बना दिया है। लेखनी की नोक के एक झटके से अकेले मध्य प्रदेश के ही तीन लाख लोग अपनी जीविका के साधनों

से वंचित हो गये हैं। उन्हें कोई क्षतिपूर्ति-धन नहीं दिया गया और न उनके पुनर्वास के लिए कोई व्यवस्था ही की गयी। यह आदेश न केवल वनक्षेत्रों तक सीमित है, बल्कि उस विशाल भूखण्ड पर भी लागू है जो एक पीढ़ी से भी अधिक समय से कृषि के अन्तर्गत था। इसका सीधा-सादा कारण यह था कि सरकारी अभिलेख (कागजात) में ये गाँव वन्य गाँव के रूप में अंकित थे, राजस्व-गाँव के रूप में नहीं। सरकार ने यह सोचने का कभी कष्ट नहीं किया कि यह अन्तर केवल कागजों पर ही अधिक है, वास्तव में नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि हजारों कृषक भूमि से बाहर कर दिये गये। यदि उनमें से कुछ अभी भी कृषि करते हैं, तो उसका कारण यह है कि वन-विभाग के कर्मधारियों से मिल-जुलकर वैसा कर लेते हैं। हम नहीं जानते कि यह मानवी दया है या मानवी दुर्बलता—आज के घूसखोरी के युग में यह बहुत प्रचलित है—जो सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन में विलम्ब के लिए कारणीभूत है।

उन क्षेत्रों में कोई उद्योग नहीं है, और यंत्रचालित यातायात तथा वृक्षों की कटाई एवं चिराई के लिए यन्त्रों के उपयोग के कारण वनों में मानव-श्रम की माँग भी घट रही है। ठेकेदार लोग इन्हें अत्यल्प पारिश्रमिक पर नियुक्त करते हैं और ऐसा मानते हैं कि वे इन्हें कुछ काम देकर, जबकि ये बिल्कुल बेकार हैं, इन पर उपकार कर रहे हैं। संविधान में भिक्षुक—बलात् श्रम को भले ही समाप्त कर दिया गया हो, किन्तु वनविभाग ने उसे समाप्त नहीं किया है। अधिकारीगण 'भिक्षुक' की परम्परा को उस स्थिति में भी जीवित रखना अपना कर्तव्य मानते हैं, जब उस पद्धति से सम्बन्धित सुविधाएँ अस्तित्व में न हों। लोग सीधे-सादे हैं और उनकी आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी हैं, पर उनके साधनस्रोत भी बहुत कम हो गये हैं। जब निमाड़ की मेरी पिछली यात्रा के समय मुझे यह बताया गया कि वनवासियों में ऐसे लोग अपवाद के रूप में ही हैं जिन्हें दिन में दोनों समय भरपेट भोजन मिलता होगा, तो मैं इस पर विश्वास नहीं कर सका। परन्तु मेरे आसपास बैठे लोगों के सूखे, पीले पड़े मुख इस बात पर विश्वास कर लेने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण थे।

"जमीन (भूमि) दो" उनके लिए केवल एक नारा नहीं है, यह मरते लोगों की स्व-अस्तित्व के लिए एक पुकार है। संविधान में अनुसूचित जातियों को विशेष प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है। उनके कल्याण के लिए विशेष कोष निर्धारित किये गये हैं। किन्तु उसका अधिकांश भाग धर्मान्तरित ईसाइयों को मिलता है, क्योंकि उन

लोगों ने अपने जीवन को संस्थागत जीवन का रूप दे दिया है और सरकार उन्हें वन्यजातियों की श्रेणी में रखती है। जो सचमुच पीड़ित हैं, वे उपेक्षित रह गये हैं। आस्ट्रेलियाइयों ने देशी जनता को जंगलों के अन्दर भगा दिया था, पर वर्तमान मध्यप्रदेश सरकार वनवासियों को जंगल से बाहर भगा रही है।

यह एक भारी सन्तोष की बात है कि वनवासी भारतीय जनसंघ के झण्डे के नीचे संगठित हो रहे हैं। ठक्कर बाप्पा और आदिम जाति सेवासंघ ने किसी समय उनके बीच कुछ अच्छा कार्य किया था। किन्तु स्वतन्त्रता के आगमन के बाद आदिम जाति सेवासंघ कांग्रेस से सम्बन्धित एक संस्था बने रहने की अपेक्षा कुछ बढ़िया काम नहीं कर सका। इसलिए निःस्वार्थ और व्रती कार्यकर्ता अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय जनसंघ की ओर मुड़ रहे हैं। वनवासियों ने अनेक मोर्चों का आयोजन किया और ऐसी वन्यभूमि को, जहाँ से जंगल काट डाले गये हैं, जोतकर उन्होंने सत्याग्रह भी किये। सरकार दमन की नीति अपना रही है। ऐसी शंका थी कि वाणविद्या में अत्यन्त सिद्धहस्त इन लोगों के लिए शान्तिपूर्ण सत्याग्रह के मार्ग का अनुसरण करना कठिन हो जायेगा। परन्तु आयोजकों को इसका श्रेय है कि ये लोग अत्यन्त शान्तिपूर्ण व्यवहार कर रहे हैं। ये लोग प्रह्लाद के मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। और, यदि सरकार हिरण्यकशिपु के समान ही कार्य करती रहती है तो पेड़ों में से नृसिंह का आगमन सुनिश्चित है। सरकार को इन लोगों के लोकनृत्यों के प्रदर्शन का आयोजन करने के बदले इस ओर ध्यान देना चाहिए कि वे मनुष्य की भाँति जीवनयापन कर सकें। वे आधुनिक सुविधाओं के आकांक्षी नहीं हैं। वस्तुतः आधुनिकतावाद ही उनका अस्तित्व समाप्त कर रहा है। उन्हें केवल शान्ति से जीने दें।

इटारसी का अधिवेशन प्रान्त में जनसंघ के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना रही। यदि इस अधिवेशन द्वारा स्वीकृत कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया गया तो मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि आगामी चुनाव में जनसंघ एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में प्रकट होगा, जो प्रान्त के भावी ढाँचे को प्रभावित कर सकेगा।

(२१ नवम्बर, १९६०)

फोर्ड फाउण्डेशन और गोहत्या

प्रचण्ड आलोचना और द्रष्टव्य विफलता के पश्चात् भी सरकार ऐसे विषयों में भी परामर्श और मार्गदर्शन के लिए विदेशी स्रोतों पर ही निर्भर बनी हुई है, जिनकी हमें स्वयं पर्याप्त जानकारी है और जिनमें अन्य कोई नयी जानकारी प्राप्त होने की सम्भावना तक नहीं है। जब कभी कोई समस्या खड़ी होती है, वह सदा किसी विदेश को एक प्रतिनिधिमण्डल भेज देती है या 'रिपोर्ट' (प्रतिवेदन) देने और संस्तुति करने के लिए विदेशी विशेषज्ञों को आमंत्रित करती है। वे संस्तुतियाँ अपने आप में चाहे कितनी ही अच्छी हों, परन्तु यह निश्चित है कि उनमें सम्बन्धित समस्याओं के बारे में समन्वयात्मक दृष्टिकोण नहीं होता। विशेषज्ञों के बारे में साधारणतः ऐसा कहा जाता है कि वे अपने विषय के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों का अवमूल्यांकन कर देते हैं या उनकी पूर्णतः उपेक्षा ही कर देते हैं। और यदि वे विशेषज्ञ विदेशी हुए तो उन्हें उन लोगों तक के बारे में कोई ज्ञान नहीं होता, जिनको वे परामर्श देते हैं। यदि उनका प्रतिवेदन किसी प्राविधिक (तकनीकी) विषय से सम्बन्धित हो, तब तो शायद उसके क्रियान्वयन में कोई बड़ी कठिनाई नहीं हो सकती, किन्तु यदि कोई ऐसा विषय है जिसमें असंख्य लोगों की ओर व्यक्तिगत ध्यान देने की आवश्यकता हो, तब वे अपने कार्य में निश्चित ही विफल होंगे क्योंकि उन्हें स्थानीय रीति-रिवाजों का घनिष्ठ ज्ञान नहीं होता। भारत में कृषि-उत्पादन के विषय में फोर्ड फाउण्डेशन दल की 'रिपोर्ट' में उक्त कमी विद्यमान है।

हम उस दल के पूरे प्रतिवेदन की समीक्षा करना नहीं चाहते, किन्तु हम भारत की पशु-समस्या से सम्बन्धित उसकी संस्तुतियों पर विचार करेंगे। उक्त विशेषज्ञ दल ने भारत में पशु-धन में अधिकाधिक कमी करने का परामर्श दिया है। इस सम्बन्ध में, अनुपयोगी (?) पशुओं की हत्या के अतिरिक्त दल ने निम्नांकित उपाय भी सुझाये हैं :

(क) पशुओं पर कर : कुछ उपयुक्त छूट के साथ पशुओं पर क्रमिक कर-निर्धारण, ताकि ऐसे पशुओं का पालन-पोषण उनके स्वामियों के लिए एक आर्थिक बोझ बन जाय और उनकी संख्या तथा खाद्यान्न-पूर्ति में सन्तुलन रहे।

(ख) प्राकृतिक सेवा के लिए रखे गये सभी सांडों को अनिवार्य रूप से घेर कर

अकेले रखना।

(ग) प्रजनन के लिए जिन युवा सांडों की आवश्यकता नहीं है, उनका विधानतः बधियाकरण।

(घ) अतिरिक्त गायों और बछियों का अनिवार्य वन्ध्याकरण।

(ङ.) पशुओं को खुले चराने की प्रथा बन्द करने के लिए विधान बनाने के औचित्य के बारे में छानबीन : पशुओं को अनिवार्य रूप से फार्मों के अन्दर रखने की व्यवस्था से पशुओं की संख्या को नियंत्रित रखने में सहायता मिलेगी।

इन संस्तुतियों में निश्चित रूप से भारत में गाय के सामाजिक-आर्थिक महत्त्व की उपेक्षा की गयी है। यद्यपि उस दल ने यह मान्य किया है कि भारत में गाय के बारे में एक ऐसी सशक्त भावना है जिसे पाश्चात्य लोग अनुभव नहीं कर सकते, फिर भी उसने मार्ग से हटकर—कुछ पाश्चात्यानुरागी और इसलिए (कहने की आवश्यकता नहीं) राष्ट्रीय भावनाविहीन भारतीयों के मत के आधार पर, जिनको उस दल ने व्यापक रूप से उद्धृत किया है—गोहत्या के पक्ष में परामर्श दिया है। श्री मौरिस जिंकिन ने अपनी कृति 'स्वतन्त्र एशिया के लिए विकास' (Development for free Asia) में इस विषय में ठीक ही लिखा है :

"यदि हिन्दू का यह विश्वास है कि गाय की हत्या इतना घोर पाप है कि उसके कारण उसे अगले जन्म में पशुयोनि में पैदा होना पड़ेगा तो यह सुझाव देना, जैसा कि अर्थशास्त्री लोग बहुधा दिया करते हैं, कि दूध देने की दृष्टि से बूढ़ी गायें जो खाती हैं उससे कुछ प्राप्त नहीं होता, बिल्कुल असंगत है, क्योंकि यह तर्क उतना ही बेकार है जितना उपनगरों में रहनेवाली किसी अंग्रेज गृहिणी से यह कहना कि उसे अपने कुत्ते का परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि वह इतना मांस खा जाता है कि उससे ब्रिटेन का भुगतान-सन्तुलन बिगड़ता है।"

ऐसी प्रबल भावना होते हुए भी अर्थशास्त्रियों ने, विशेषकर उन अर्थशास्त्रियों ने, जिन्होंने हिन्दू समाजशास्त्र के आर्थिक पहलुओं का अध्ययन नहीं किया है, बार-बार गोहत्या की संस्तुति करने का दुस्साहस किया। उनकी संस्तुतियाँ अवास्तविक होने के कारण अपना सारा प्रभाव खो देती हैं और हमारी समस्याओं के लिए ऐसे विशेषज्ञों को नियुक्त करना केवल धन और शक्ति का अपव्यय है।

यह केवल भावना का ही प्रश्न नहीं है, जिसके कारण हिन्दू का गाय के प्रति इतना लगाव है। गाय भारत की अर्थव्यवस्था की आधारशिला है। विदेशी आगन्तुक

या विदेशों की यात्रा करने वाले हमारे देश के लोग भी इस तथ्य को अनायास भुला देते हैं। किन्तु हम भारतवासी जानते हैं कि गाय के बिना हमारी कृषि विनष्ट हो जायेगी। लगभग एक सौ वर्ष से भी अधिक समय से बिना किसी वैधानिक बाधा या नियमन के पशु-हत्या अनवरत रूप से चल रही है। यदि कसाई की छुरी के समक्ष गाय का अस्तित्व अभी तक बना हुआ है, तो उसका कारण उसका आर्थिक महत्त्व है। और जो लोग गोहत्या पर पूर्ण प्रतिबन्ध की माँग करते हैं, वे भी वैसा आर्थिक आधार पर ही करते हैं। हमारे पशुधन के ह्रास के कारण देश की अर्थव्यवस्था तहस-नहस हो गयी है। यदि हम उसका पुनर्निर्माण चाहते हैं तो हम उसके आधार का पुनर्निर्माण करके ही वैसा कर सकते हैं। कृषि-विकास की योजनाओं का कोई अर्थ नहीं है, यदि वे गाय और बैल को उनका वह मुख्य स्थान नहीं देतीं जो उन्हें सदा से प्राप्त रहा है।

फोर्ड फाउण्डेशन के विशेषज्ञ दल ने हमारे बैलों की स्थिति को अनुभव किया है। उसने लिखा है कि "भारत के बैलों ने अपनी शक्ति, गति और सहनशीलता के लिए विश्वव्यापी मान्यता प्राप्त की है। उन्नत जाति (नस्ल) के भारवाही पशु कृषि-कार्य के मुख्य आधार बने रहेंगे।" किन्तु वह उस समय पाठकों की धारणा को पीछे छोड़ देता है, जब वह आगे यह लिखता है कि "फिर भी, भूमि पर इतना अधिक दबाव है कि कृषि-कार्य के वैकल्पिक साधनों का गम्भीरता से अध्ययन किया जाना चाहिए। विभिन्न आकार के खेतों में, जोताई-आवश्यकता और संचालन-लागत, दोनों दृष्टियों से छोटे ट्रैक्टरों की उपयुक्तता के बारे में जाँच की जानी चाहिए।"

वस्तुतः इस संस्तुति के रूप में दल का भीतरी मन्तव्य प्रकट हो गया है। अमरीकी उद्योग अपने उत्पादनों के लिए बाजार पाने का प्रयत्न कर रहा है। जब तक बैलों से खेतों की जोताई होती है, तब तक भारत में ट्रैक्टरों का उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए बैलों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए ताकि भारतीय कृषक के पास यन्त्र का सहारा लेने के अतिरिक्त दूसरा विकल्प न रह जाय। यह हमें अंग्रेजों का स्मरण दिलाता है, जिन्होंने हमारे बुनकरों के हाथ काट डाले ताकि मैनचेस्टर और लंकाशायर के वस्त्र-कारखाने अबाध गति से चल सकें। पशुधन इसलिए बेकार है, क्योंकि वह भारत में अमरीकी उद्योग की प्रगति के मार्ग में बाधा है।

विशेषज्ञ दल के तर्क इस सिद्धान्त पर आधारित हैं कि भूमि से प्राप्त उत्पाद के लिए मनुष्य और पशु के बीच प्रतियोगिता है। उन विशेषज्ञों ने मनुष्य को बचाने के

लिए पशुओं की हत्या का परामर्श दिया है। हम यहाँ इस प्रश्न पर विचार नहीं करने जा रहे है कि इस प्रकार की प्रतियोगिता विद्यमान है या नहीं। एक बात हम अवश्य कहेंगे कि निर्माण के प्रतियोगिता-सिद्धान्त का भारतीय समाजशास्त्रियों ने समर्थन नहीं किया है। हमारा मत है कि प्रतियोगिता नहीं, सहयोग ही निर्माण का नियम है। यदि किसी त्रुटिवश उस सहयोग मे कुछ अस्त-व्यस्तता आ गयी हो तो सभ्यता का समावेश उस सहयोग की स्थापना करने में ही है। यदि देश में मानव और पशुधन के बीच ऐसी प्रतियोगिता विद्यमान है, तो दोनों को परस्पर पूरक बना कर, न कि इनमें से किसी एक को मारकर, उस प्रतियोगिता का उन्मूलन करने की आवश्यकता है। हमारा मत है कि प्रकृति की अवज्ञा करने की अपेक्षा उसके अनुसरण द्वारा स्थिति में सुधार करना सदा ही अच्छा और सरल भी होता है।

(30 नवम्बर, १९५६)

सरकार पर अधिकाधिक निर्भरता

राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद ने हैदराबाद में भाषण करते हुए प्रत्येक बात या वस्तु के लिए सरकार की ओर देखने की मनोवृत्ति की निन्दा की है। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि जनता को आत्मनिर्भर बनना चाहिए और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार पर नहीं निर्भर रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक विकेन्द्रीकृत पद्धति की संस्तुति की, जिसमें मनुष्य अपने व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रख सके। उन्होंने सामाजिक कार्यकर्ताओं से अपने प्रयास चालू रखने का अनुरोध किया और कहा कि उन्हें इस भावना का—जो स्वतन्त्रता के बाद भारी पैमाने पर विकसित हुई है—परित्याग कर देना चाहिए कि उनका कार्य पूरा हो गया है।

हर विचारशील व्यक्ति, जिसके मन में भारतीय जीवनपद्धति की कुछ कल्पना है, राष्ट्रपति के कथन से सहमत होगा। हिन्दू परिकल्पना के अनुसार सरकार के अत्यन्त सीमित कार्य हैं। इस तथ्य के अतिरिक्त कि मनुष्य से जिन चार पुरुषार्थों के पालन की अपेक्षा है, राजनीति उसमें से एक पुरुषार्थ का केवल एक अंग है, यह माना जाता है कि सरकार और प्रशासन के कार्य स्थानीय स्तर पर चलते हैं। (भारत में) केन्द्रीकरण का लक्ष्य प्रशासन के व्यावहारिक क्षेत्र की अपेक्षा भावनात्मक क्षेत्र अधिक रहा। जबकि राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता की अन्तरंग भावना यहाँ विद्यमान थी, वह स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार से अपनी अभिव्यक्ति करती थी। इससे न केवल लोग आत्मविश्वासी बने, बल्कि सभी क्षेत्रीय तथा अन्य दलों के लिए—नहीं, हर व्यक्ति के लिए—पूर्ण विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसलिए हिन्दुत्व अपने स्वरूप के बारे में इतना वैविध्यपूर्ण एवं इतना प्रचुर विस्तृत चित्र प्रस्तुत करता है कि किसी सामान्य पर्यवेक्षक को यह समन्वय और एकता से रहित प्रतीत हो सकता है। आधुनिक विश्व एकता को केवल अपने भद्दे यांत्रिक पहलू से देखता है। एकरूपता को एकता का आवश्यक लक्षण माना जाने लगा है। किसी जीवित प्राणी में उसकी आन्तरिक एकता अपने को एकरूप ढंग से प्रकट नहीं करती। एक यन्त एक ही क्रिया को बार-बार और किसी भी स्थान में दुहरा सकता है, किन्तु मनुष्य उस यांत्रिक ढंग से कार्य करने में सक्षम नहीं है।

यदि आज सरकार पर अति-निर्भरता की मनोवृत्ति है, तो इसके अनेक कारण

हैं, जिनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण को स्वतन्त्रता के लिए कांग्रेस के आन्दोलन में ढूँढ़ा जा सकता है। जब हम लोगों पर विदेशी शासक शासन चलाते थे, तब अपनी सारी खामियों के लिए सरकार को उत्तरदायी ठहराने का स्वभाव हममें विकसित हो गया। तब राष्ट्रीय नेताओं और गाँव के गँवारों ने समान रूप से जनता को यह बताया कि यदि वह अपनी कठिनाइयों से मुक्ति पाना चाहती है तो विदेशी जुए को उतार फेंके। जबकि अंग्रेजों ने सूक्ष्म प्रचार की विभिन्न पद्धतियों के द्वारा जनता पर यह छाप डालने का प्रयत्न किया कि उन्हें अत्यन्त परोपकारी, न्यायी और दयालु सरकार प्राप्त है, राष्ट्रवादियों ने सदैव उसे शैतान की सरकार के रूप में चित्रित किया। उन लोगों से कहा गया कि उन्हें जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसे सरकार से माँगें। यदि गांधीजी तथा अन्य नेताओं ने कुछ स्वैच्छिक सेवाएँ हाथ में लीं, तो कुछ लोगों ने समानान्तर सरकार की स्थापना का कार्य पसन्द किया। जब असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, तब राष्ट्रीय विद्यालयों और कालेजों की स्थापना की गयी। ऐसा इसलिए नहीं किया गया कि राष्ट्रीय नेता सरकारी नियन्त्रण से शैक्षणिक संस्थानों को स्वतन्त्र रखने में विश्वास करते थे, यह तो सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का केवल बहिष्कार करने के लिए किया गया। स्थानीय न्यायालय भी स्थापित किये गये, किन्तु उनकी स्थापना का भी कारण कांग्रेस की यह इच्छा नहीं थी कि सारे विवाद स्थानीय परम्परा और रीति-रिवाजों के अनुसार जनता द्वारा सम्मानपूर्ण ढंग से सुलझाये जायँ, बल्कि उसके पीछे भी केवल ब्रिटिश प्रशासन को ठप कर देने का उद्देश्य था। जो लोग ताड़ी की दूकानों पर धरना देते थे, वे केवल स्वयं की सरकार की कामना से प्रेरित थे ताकि वह विधान द्वारा मद्यनिषेध लागू कर सके। इसलिए यह स्वाभाविक था कि जब अपनी सरकार आयी, तब सामाजिक कार्यकर्ताओं ने अपना कार्य पूरा हुआ मान लिया और शेष सब के लिए सरकार पर निर्भर हो गये।

इन सब बातों को रणनीति के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है। जब स्वतन्त्रता प्राप्त करना हमारा एकमेव लक्ष्य था, तब जनता में स्वतन्त्रता के लिए आकांक्षा उत्पन्न करने के हर साधन का औचित्य था। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त होने के साथ ही इस दृष्टिकोण में संशोधन करने की आवश्यकता थी। सरकार को सिद्धान्त में और व्यवहार में अपने सीमित कार्यक्षेत्र के बारे में जनता को अवगत कराना चाहिए था। इसके विपरीत एक कल्याणकारी राज्य का आदर्श अपनाकर उसने लोगों को सरकार पर और अधिक निर्भर बना दिया। स्वैच्छिक, निजी, प्राचीन और वर्तमान

संस्थाओं की उग्र आलोचनाओं के कारण लोग उनसे विमुख हो गये। यदि ये संस्थाएँ अवांछनीय और अकार्यक्षम थीं, तो नयी संस्थाओं की स्थापना की जानी चाहिए थी। समाजवाद की शपथ लेनेवाली सरकार जनता के साथ उत्तरदायित्व नहीं बँटा सकती। होता यह है कि जब सरकार विफल हो जाती है, तभी जनता को बलि के बकरे के रूप में सामने लाया जाता है।

इस खेदजनक स्थिति के निर्माण का एक कारण और भी है। सामान्य भावना ऐसी है कि बिना बड़ी योजनाओं के, जिसका परिणाम केन्द्रीकरण है, हम कुछ नहीं कर सकते। कहा जाता है कि " चाहे जो हो, विश्व केन्द्रीकरण की ओर दौड़ रहा है और हम उसके प्रभाव से बच नहीं सकते।" इस असहायता की भावना ने ही—यदि इसे विश्वास और उत्साह का अभाव न कहें तो—राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों की हमारी सभी विकेन्द्रित संस्थाओं के लिए मौत की घण्टी बजा दी है। यदि हम आधुनिक विश्व के प्रभाव से नहीं बच सकते, और अपने लिए नये मार्ग नहीं खोज निकाल सकते जो आधुनिक परिस्थितियों के लिए अधिक अनुकूल हों, तो हम सारे विश्व के साथ खड्ड में चले जायेंगे। किन्तु तथ्य यह है कि विश्व का प्रभाव इतना शक्तिशाली और अपरिहार्य नहीं है, जितनी हम उसके बारे में कल्पना करते हैं। हम अभी भी अपने पैरों पर खड़े रह सकते हैं और ऐसा मार्ग निकाल सकते हैं, जिसका दूसरे लोग अनुसरण करें।

किन्तु इसके लिए जीवन के प्रति, नीतियों के प्रति और आयोजना के प्रति हमारे दृष्टिकोण में आमूल सुधार आवश्यक है। हमें उनकी सीमितताओं को स्वीकार करना चाहिए। इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार को इसके लिए तैयार किया जाय—और राष्ट्रपति यदि जनता को वास्तव में स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं तो उन्हें इस दिशा में अपने प्रभाव का उपयोग करना चाहिए—कि वह समाजवाद की तृष्णा का परित्याग करे और उसका उस क्षेत्र में, जो जनता का न्यायसम्मत और परम्परागत क्षेत्र है, सिद्धान्त और व्यवहार में प्रवेश रोक दे।

(४ अगस्त, १९५६)